दिवास्वप्न

दिवास्वप्न

गिजुभाई बधेका

हिंदी अनुवाद

काशिनाथ त्रिवेदी



नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

ISBN 81-237-0831-9

पहला संस्करण : 1991
चौथी आवृत्ति : 1997 (*शक 1919*)

Divasvapna *(Hindi)*
रु. 19.00
निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए-5 ग्रीन पार्क
नयी दिल्ली-110016 द्वारा प्रकाशित

भूमिका

बच्चों के शिक्षक को लाचारी और जड़ता के जिन बंधनों में उपनिवेशी शासन ने कोई डेढ़ सौ बरस हुए बांधा था, वे अभी कटे नहीं हैं। इस बीच स्कूली व्यवस्था के फैलाव के साथ शिक्षा देश के हरेक कोने में जा पहुंची है। अध्यापक की उदासीन मानसिक अवस्था को सहन करना इस प्रकार करोड़ों बच्चों की विवशता बन गया है। शायद ही कोई ऐसा अध्यापक होगा जो अपने बच्चों को आसपास की दुनिया से बेखबर रहकर जीना सिखाना चाहता हो। पर स्कूल की संस्कृति ही कुछ ऐसी बन गई है कि कीड़ों से लेकर सितारों तक दुनिया की तमाम चीजें कक्षा की पढ़ाई से बाहर मानी जाती हैं। एक औसत शिक्षक यह मानकर चलता है कि उसका काम पाठ्यक्रम पढ़ा देना और बच्चों को परीक्षा के लिए तैयार करना है। बच्चे की उत्सुकता का विकास शिक्षक न अपनी जिम्मेदारी में शामिल समझता है, न स्कूल में ऐसी परिस्थितियां हैं जिनमें वह इस जिम्मेदारी को निभा सके।

यह स्थिति गुजरात के महान शिक्षाविद् और बाल-शिक्षक गिजुभाई बधेका (1885-1939) की पुस्तक "दिवास्वप्न" के पुनर्प्रकाशन और प्रसार के लिए एकदम अनुकूल है। यह पुस्तक पहली बार 1932 में मूलतः गुजराती में प्रकाशित हुई थी और उसी वर्ष मध्य प्रदेश के यशी शिक्षाविद् काशिनाथ त्रिवेदी ने इसका अनुवाद हिंदी में स्वयं प्रकाशित किया था। सही काम की सफलता के लिए धैर्य त्रिवेदी जी ने गांधी से सीखा था। "दिवास्वप्न" सहित गिजुभाई के समूचे शिक्षा साहित्य के व्यापक प्रसार का उनका सपना आज सफलता के कुछ समीप पहुंचा है।

पर शिक्षा में परिवर्तन लाने का सपना उस राह पर काफी संघर्ष करके ही सफल हो सकता है जिस पर गांधी, टैगोर और गिजुभाई आगे बढ़े थे। इन तीनों के शिक्षाविज्ञान का सार है बच्चे को स्वतंत्रता और स्वावलम्बन का माहौल बना देना। गिजुभाई ने 1920 में अपने "बालमंदिर" की स्थापना करके इस मूल सिद्धांत को एक संस्थागी आधार दिया और फिर अपने दैनिक व्यवहार व लेखन में उसके नाना आयामों को पहचाना। "दिवास्वप्न" एक ऐसे शिक्षक की काल्पनिक कथा है जो

शिक्षा की दकियानूसी संस्कृति को नहीं स्वीकारता और परंपरा व पाठ्यपुस्तकों की सचेत अवहेलना करके बच्चों के प्रति सरस और प्रयोगशील बना रहता है। उसके प्रयोगों की सैद्धांतिक पृष्ठभूमि मोंटेसरी में है, पर तैयारी और क्रियान्वयन ठेठ देसी है। "दिवास्वप्न" को पढ़ते-पढ़ते मन बेरंग, धूल-धूसरित प्राथमिक शालाओं की उदासी को भेदकर उल्लास और जिज्ञासा की झटक में बह जाता है और उस समय का चित्र बनाने में लग जाता है जब देश के लाखों स्कूलों में कैद पड़ी प्रतिभा बह निकलेगी और बच्चे अपने शिक्षक के साथ स्कूल के गिर्द फैली दुनिया का जायजा आनंदपूर्वक कक्षा में बैठकर ले सकेंगे।

1 मई 1989 -कृष्ण कुमार

अध्यक्ष, शिक्षा विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

मुझसे किसी ने कहा कि भारी-भरकम तात्त्विक लेखों के बदले यदि मैं कथा-शैली में शिक्षा-सम्बंधी अपने विचारों को सँजोऊँ तो कैसा हो ? मुझे प्रयत्न करने की प्रेरणा मिली और फलस्वरूप यह 'दिवास्वप्न' रचा गया ।

दिवास्वप्नों के मूल में वास्तविक अनुभव हों तो वे मिथ्या नहीं जाते । यह दिवास्वप्न मेरे जीवंत अनुभवों में से उपजा है, और मुझे विश्वास है कि प्राणवान, क्रियावान और निष्ठावान शिक्षक अपने लिए भी इसको वास्तविक स्वरूप प्रदान कर सकेंगे ।

-गिजुभाई

प्रथम खंड

प्रयोग का आरम्भ

1

मैंने पढ़ा और सोचा तो बहुत-कुछ था, परन्तु मुझे अनुभव नहीं था। मैंने सोचा, मुझे स्वयं अनुभव भी करना चाहिए। तभी मेरे विचार पक्के बनेंगे। तभी यह मालूम होगा कि मेरी आज की कल्पना में कितनी सच्चाई है और कितना खोखलापन।

मैं शिक्षा-विभाग के एक बड़े अधिकारी के पास गया और उनसे प्रार्थना की कि वह मुझे प्राथमिक पाठशाला की एक कक्षा सौंप दें।

अधिकारी जरा हँसे और बोले–'रहने भी दो भाई ! यह काम तुमसे नहीं बनेगा। लड़कों को पढ़ाना, सो भी प्राथमिक पाठशाला के लड़कों को ! ऐसे काम में एड़ी-चोटी का जोर लगाना पड़ता है। तुम ठहरे लेखक और विचारक। मेज-कुर्सी पर बैठकर लेख लिखना सरल है और कल्पना में पढ़ा लेना भी सहज है, कठिन है प्रत्यक्ष काम करना और फिर उसे सिरे लगाना।'.

मैंने कहा–'इसीलिए तो मैं स्वयं अनुभव करना चाहता हूँ। अपनी कल्पना में मुझे वास्तविकता लानी है।'

अधिकारी ने कहा–'अच्छा, यदि तुम्हारा आग्रह ही है तो खुशी से एक साल तक अनुभव करो। प्राथमिक पाठशाला की चौथी कक्षा मैं तुम्हें सौंपता हूँ। यह उसका पाठ्यक्रम है। ये उसमें चलने वाली कुछ पाठ्यपुस्तकें हैं, ये शिक्षा-विभाग की छुट्टी आदि के कुछ नियम हैं।'

मैंने आदर की दृष्टि से उन सब चीजों को देखा। पाठ्यक्रम हाथ में लेकर जेब में रखा और पाठ्यपुस्तकों को एक डोरी से बांधने लगा।

साहब ने कहा–'देखो, जैसे चाहो वैसे प्रयोग करने की स्वतंत्रता तो तुम्हें है ही; इसके लिए तो तुम आए ही हो। लेकिन यह भी ध्यान में रखना कि बारहवें महीने में परीक्षा सामने आ खड़ी होगी और तुम्हारा काम परीक्षा के परिणामों से मापा जाएगा।'

मैं कक्षा में आया और लड़कों से कहा-'आज अब और काम नहीं करेंगे। कल से अपना नया काम शुरू होगा। आज तो तुम सब छुट्टी मनाओ।'

'छुट्टी' शब्द सुनते ही लड़के 'हो-हो' करके कमरे से बाहर निकले और सारे स्कूल में खलबली मच गई। सारा वातावरण 'छुट्टी, छुट्टी, छुट्टी' शब्दों से गूँज उठा ! लड़के उछलते-कूदते और छलाँगें भरते घरों की तरफ भागने लगे।

दूसरे शिक्षक और विद्यार्थी ताकते रह गए। 'यह क्या है?' प्रधानाध्यापक एकदम मेरे पास आए और ज़रा भौहें तानकर बोले-'आपने इन्हें छुट्टी कैसे दे दी? अभी तो दो घंटों की देर है।'

मैंने कहा- 'जी, लड़कों की आज इच्छा नहीं थी। वे आज अव्यवस्थित भी थे। शान्ति के खेल में मैंने यह अनुभव किया था।'

प्रधानाध्यापक ने कड़ी आवाज में कहा-'लेकिन इस तरह आप बगैर मुझसे पूछे छुट्टी नहीं दे सकते। एक कक्षा के लड़के घर चले जाएँगे तो दूसरे कैसे पढ़ेंगे ? आपके ये प्रयोग यहाँ नहीं चलने वाले।'

उन्होंने ज़रा रोष में आकर फिर कहा-'अपनी यह इच्छा- विच्छा रहने दीजिए। शान्ति का खेल तो होता है मोंटेसरी शाला में। यहाँ प्राथमिक पाठशाला में तो चट तमाचा मारा नहीं और पट सब चुप हुए नहीं ! और फिर नियमानुसार सब पढ़ते-पढ़ाते हैं। आप भी उसी तरह पढ़ायेंगे तो बारह महीनों में कोई परिणाम नजर आएगा। आज का दिन तो यों ही गया, और उल्लू बने, सो अलग।'

मुझे अपने प्रधानाध्यापक पर दया आई। मैंने कहा-'साहब, तमाचा मारकर पढ़ाने का काम तो दूसरे सब कर ही रहे हैं और उसका फल मैं तो यह देख रहा हूँ कि लड़के बेहद असभ्य, जंगली, अशान्त और अव्यवस्थित हो चुके हैं। मैंने तो यह भी देख लिया है कि इन चार वर्षों की शिक्षा में लड़कों ने मानो तालियाँ बजाना और, 'हा, हा' 'हू, हू' करना ही सिखा है ! उन्हें अपनी पाठशाला से प्रेम तो है ही नहीं। छुट्टी का नाम सुना नहीं कि उछलते-कूदते भाग गए !'

प्रधानाध्यापक बोले-'तो अब आप क्या करते हैं, सो हम देख लेंगे।'

मैं धीमे पैरों और बैठे दिल से घर लौटा। लेटे-लेटे मैं सोचने लगा- काम बेशक मुश्किल है ! लेकिन इसी में ही मेरी सच्ची परीक्षा है। चिन्ता नहीं। हिम्मत नहीं हारनी चाहिए। इस तरह कहीं 'शान्ति का खेल' होता है? मोंटेसरी-पद्धति में इसके लिए शुरू से कितनी तालीम दी जाती है? मैं भी कितना मूर्ख हूँ जो पहले ही दिन से यह काम शुरू कर दिया ! पहले मुझे उन लोगों से थोड़ा परिचय बढ़ाना चाहिए। मेरे

लिए उनके दिल में कुछ प्रेम और रस पैदा होना चाहिए । तब कहीं जाकर वे मेरा कुछ कहना मानेंगे । जहाँ पढ़ाई नहीं, बल्कि छुट्टी प्यारी है, वहाँ काम करने के माने हैं, भगीरथ का गंगा को लाना !

दूसरे दिन के काम की बातें निश्चित कीं और मैं सो गया । रात तो आज के और अगले दिन के काम के सपने देखने में ही बीत गई !

3

पाठशाला खुली और मैं कक्षा में गया । लड़के मुझे घेर कर खड़े हो गए और मौज में आकर, मज़ाकिया तौर पर, लेकिन बिना डरे, कहने लगे–'मास्टर साहब, आज भी छुट्टी दीजिए न ! आज भी, छुट्टी, छुट्टी, छुट्टी !'

मैंने कहा–'अच्छी बात है, छुट्टी तो आज भी दूंगा । लेकिन सारे दिन की नहीं, दो घंटों की । पहले ठहरो, मैं तुमको एक कहानी सुनाता हूँ । तुम सब सुनो । बाद में हम दूसरी बातें करेंगे ।'

मैंने तुरन्त ही कहानी शुरू की ।

एक था राजा, उसके सात रानियाँ थीं । हर एक रानी के दो- दो बच्चे थे- एक कुंवर और एक राजकुमारी ।

इतना सुनते ही हो-हल्ला मचाते हुए सब लड़के मुझे घेर कर बैठ गए । मैं कहानी कहते-कहते जरा रुका और बोला–'देखो सब अच्छी तरह बैठो । यों तो काम नहीं चलेगा ।'

सभी ठीक से बैठ गए और कहने लगे–'तो जल्दी कहानी कहिए न ! जल्दी कहिए,आगे क्या हुआ?'

मैंने मुस्कराते हुए शुरू किया

'उन सातों राजकुमारियों के सात-सात महल, और हर महल में सात-सात मोतियों के झाड़ !'

लड़के फटी आँखों कहानी सुनने लगे । सारी कक्षा में सन्नाटा था । न कोई बोलता था, न हिलता था । प्रधानाध्यापक ने सोचा होगा, आज इस कक्षा में इतनी अधिक शान्ति क्यों है? बस, वे कक्षा में आ धमके । मुझसे बोले–'कहिए,कहानी सुना रहे हैं?'

मैंने कहा–'जी हाँ । कहानी और यह नए प्रकार का शान्ति का खेल, दोनों साथ-साथ चल रहे हैं ।'

प्रधानाध्यापक वापस लौट गए । मेरी कहानी चल रही थी । उधर आसपास की कक्षाओं में बड़ा कोलाहल हो रहा था । मैंने कहा–'देखो, आसपास यह कैसी गड़बड़ हो रही है?' सब लड़कों ने उस कोलाहल के प्रति अपना तिरस्कार प्रकट किया ।

कहानी आधी खत्म हुई और मैंने कहा–'बोलो बच्चो, छुट्टी चाहते हो तो कहानी बन्द कर दूँ ? नहीं तो कहानी आगे चालू रखूँ ।'

सब बोले–'चालू, चालू ! हम छुट्टी नहीं चाहते ।'

मैंने कहा–'अच्छी बात है, तो अब कहानी सुनो ।' लेकिन मैं बोला–'बीच में हम थोड़ी बातचीत कर लें? फिर घंटी बजने तक मैं कहानी ही सुनाऊँगा ।'

एक लड़का बोला–'नहीं, बातचीत कल कीजिएगा । जल्दी कहानी सुनाइये ताकि पूरी हो ।'

मैंने कहा–'कहानी तो इतनी लम्बी है कि चार दिन तक चलेगी ।'

सब–'ओहो ! इतनी लम्बी ! तब तो बड़ा मज़ा आएगा!'

मैने जेब से रजिस्टर निकाला और नाम लिखना शुरू किया । सबने बारी-बारी से झटपट अपने नाम लिखवाये । फिर मैंने हाजिरी ली और कहा–'देखो, अब से हम कहानी शुरू करने से पहले हाजिरी भरेंगे, फिर कहानी कहेंगे ।' इतना कहकर मैंने जो कहानी छेड़ी, सो घंटी बजने तक चलती रही ।

समय पूरा हो चुका था, लेकिन लड़के कहने लगे – 'अभी बैठिए और कहानी कहिए ।'

मैंने कहा–'बस-बस, अब कल ।' फिर पूछा–'कल छुट्टी या कहानी?' सब बोले 'कहानी, कहानी, कहानी !' इतना कहते हुए बच्चे जाने लगे ।

कल के 'छुट्टी, छुट्टी, छुट्टी' शब्दों के बदले आज वातावरण में कहानी, कहानी, कहानी' शब्द गूँज उठे !

मैंने सोचा– चलो, आज का दिन तो सुधरा ! सच ही है, कहानी एक अजब जादू है । सवा सोलह आने सच !

4

दूसरे दिन सबेरे सब लड़के मुस्कराते-मुस्कराते आए । मैं कक्षा में पहुँचा कि सब एक पर एक गिरते-पड़ते मुझे घेरकर बैठ गए । बोले–'मास्टर साहब, अब कहानी कहिए न !'

मैंने कहा–'पहले हाजिरी, फिर बातचीत, और फिर हमारी कहानी ।'

जेब से खड़िया मिट्टी का टुकड़ा निकालकर मैंने एक गोलाकार बनाया और कहा–'देखो, रोज इस पर आकर बैठा करना।' तब स्वयं बैठकर दिखाते हुए कहा–'इस तरह। यह जगह मेरी। यहाँ बैठकर मैं कहानी कहूँगा।'

सब बैठ गए। मैं भी बैठा। हाजिरी ली और कहानी शुरू की। सब उत्साहित थे। कहानी छेड़ दी। मंत्रमुग्ध पुतलों की तरह सब सुन रहे थे। बीच में कहानी रोक कर मैंने कहा–'कहो, कहानी कैसी लग रही है?'

'बहुत अच्छी लग रही है।'

'जैसे तुम सबको कहानी सुनना पसन्द है, क्या वैसे ही कहानी पढ़ना भी पसन्द है?'

'हाँ जी, हमको कहानी पढ़ना भी पसन्द है। लेकिन ऐसी किताबें मिलती कहाँ हैं?'

'अगर मैं तुम्हारे लिए कहानी की ऐसी किताबें ला दूँ तो तुम पढ़ोगे या नहीं?'

'पढ़ेंगे, जरूर पढ़ेंगे !'

इतने में एक चतुर लड़का बोला–'लेकिन आपको कहानी कहनी तो होगी ही। अपने आप पढ़ने में वो बात कहाँ !'

मैंने कहा–'अच्छा।' और कहानी आगे बढ़ाई।

घंटी बजी और मेरी कहानी अटक गयी। सब मुझे घेरकर खड़े हो गए। कुछ मुझे प्रेम से ताकने लगे। कुछ मेरे हाथ को धीरे-धीरे छूने और मन ही मन प्रसन्न होने लगे।

मैंने कहा–'जाओ, अब भाग जाओ। छुट्टी हो चुकी, घर जाओ।'

लड़के बोले–'जी, हम नहीं जायेंगे। आप कहानी कहिए, शाम तक बैठेंगे।'

लड़के गए और कुछ शिक्षक मेरे पास आए। कहने लगे–'भाई साहब, आपने तो खूब की। अब हमारी कक्षा के लड़के भी कहानी चाहते हैं। आजकल वे पढ़ने में ध्यान ही नहीं लगाते। बार-बार यही कहते हैं, हम भी कहानी सुनने जाएँगे, नहीं तो आप ही कहानी कहिए।'

मैंने कहा–'आप कुछ कहते रहिए न !'

वे बोले–'लेकिन कहना आता किसे है? कहें तो तब न, जब एक भी कहानी याद हो !'

मैं मूँछों में मुस्कराता रहा।

5

दूसरे दिन रविवार था। मैं उस दिन साहब से मिलने गया।

साहब ने कहा–'भाई, प्रधानाध्यापक कहते थे, तुम पूरे समय कहानी ही कहा करते हो।'

मैंने कहा–'जी हाँ, अभी तो कहानी ही चल रही है।'

साहब ने पूछा–'तो फिर प्रयोग कब करोगे? और अभ्यास कैसे पूरा होगा?'

मैंने कहा–'साहब, प्रयोग तो चल ही रहा है। अब तो मैं खुद अनुभव कर रहा हूँ कि विद्यार्थियों और शिक्षकों को एक-दूसरे के नजदीक लाने में कहानी कितनी अजब और जादू-भरी चीज है। पहले दिन जो मेरी सुनते तक नहीं थे, और जो 'हा-हा, ही ही' करके मेरी खिल्ली उड़ा रहे थे, वे ही जब से कहानी सुनने को मिली है, तब से शान्त बन गए हैं। मेरी ओर प्रेम से देखते हैं। मेरा कहा सुनते हैं। मैं जैसा कहता हूँ, उसी प्रकार बैठते हैं। 'चुप रहो, गड़बड़ न करो' तो मुझे कभी कहना ही नहीं पड़ता! और कक्षा में से तो निकालने पर भी नहीं निकलते।'

साहब ने कहा–'अच्छा यह तो समझा, लेकिन अब नई रीति से सिखाना कब शुरू करोगे?'

मैंने कहा–'जी, सिखाने की यही तो नई रीति है। कहानी के द्वारा आज व्यवस्था सिखाई जा रही है; ध्यान का अभ्यास हो रहा है; भाषा-शुद्धि और साहित्य का परिचय दिया जा रहा है। कल कुछ दूसरी बातें भी सिखानी शुरू की जाएँगी।'

साहब बोले–'लेकिन देखना, कहीं कहानी-कहानी ही में सारा साल खत्म न हो जाए।'

मैंने कहा–'जी, आप इसकी चिन्ता मत कीजिए।'

6

कहानी के लिए कक्षा के विद्यार्थी गोलाकार जमकर बैठे थे। मैंने तख्ते पर लिखा:

आज का काम–हाजिरी, बातचीत, कहानी। हाजिरी भरने के बाद मैंने बातचीत छेड़ी। मैंने कहा–'लाओ देखें, तुम्हारे नाखून कितने बढ़े हुए हैं? सब खड़े होकर अपने हाथ तो दिखाओ।'

हर एक लड़के के नाखून बढ़े हुए थे। नाखूनों में मैल भी खूब जमा था।

मैंने कहा–'अपनी टोपियाँ हाथ में लो और देखो, कैसी मैली और फटी-पुरानी हैं।

सबने अपनी टोपियाँ देखीं। किसी विरले की ही टोपी अच्छी थी।

मैं बोला–'देखो, तुम्हारे कोट के बटन साबुत हैं?'

फिर मैंने कहा–'आज और ज्यादा जांच नहीं होगी। कहानी में देर हो रही है।' यह कहकर मैंने कहानी शुरू कर दी।

कहानी के बीच में एक लड़के ने पूछा–'जी, कहानी की किताबों का क्या हुआ?'

मैंने कहा–'एक-दो दिन में ले आऊँगा। हाँ, जो कहानी की किताबें पढ़ना चाहते हों, वे अपने हाथ उठाएँ।'

हर एक विद्यार्थी का हाथ उठा हुआ था।

मैंने पूछा–'तुमने कहानी की जो-जो किताबें पढ़ी हैं, उनके नाम तो बोलो।' कुछ लड़कों ने दो-चार कहानियाँ पढ़ी थीं। वे चौथी कक्षा तक आ चुके थे, फिर भी उन्होंने पाठ्यपुस्तकों को छोड़कर और पुस्तकें बहुत ही कम पढ़ी थीं।

मैंने पूछा–'तुममें से कोई मासिक-पत्रिका भी पढ़ता है?' दो जनों ने कहा–'जी, हम 'बाल-सखा' पढ़ते हैं।'

मैंने कहा–'अच्छी बात है। मैं कहानियाँ लाऊँगा और तुम सब पढ़ना। इतनी अधिक कहानियाँ लाऊँगा कि तुम पढ़ते-पढ़ते थक जाओगे।'

सब बहुत ही प्रसन्न दिखाई पड़े।

फिर कहानी आगे चली तो घंटी बजने तक चलती ही रही। छुट्टी हुई और मैंने कहा–'भाई, एक बात सुनते जाओ। गोले पर बैठकर सुनो। कल ये नाखून कटवाकर आना। खुद काट सको तो खुद काट लेना, नहीं तो बाबूजी से कहना या फिर नाई आए तो उससे कटवा लेना।'

एक बोला–'जी, मैं तो अपने दाँत से काट लूँगा।'

मैंने कहा–'नहीं भाई, ऐसा मत करना। नाखून या तो नहनी से कटते हैं या छुरी से।'

मैंने फिर कहा–'एक तमाशा हम और करेंगे।'

सब बोले–'वह क्या ?'

'तुम नंगे सिर पाठशाला आया करो। यह गन्दी टोपी किस काम की? और हमें टोपी की जरूरत ही क्या है ?'

सब हँस पड़े। कहने लगे–'नंगे सिर मदरसे भी आ सकते हैं भला? प्रधानाध्यापक नाराज नहीं होंगे?'

मैंने कहा -'कल से मैं नंगे सिर ही आऊँगा, और तुम सब भी आना ।'

लड़के बोले-'लेकिन बाबूजी मना करेंगे तो ?'

'तो कह देना कि यह फिजूल का बोझ है । गन्दी टोपी पहनने से तो न पहनना अच्छा है ।'

मैंने आगे कहा-देखो, कोट के बटन जरूर लगवाते आना । ऐसा तो अच्छा नहीं दिखता ।' सब मन में विचार करते-करते घर जाने लगे ।

रास्ते में मुझे प्रधानाध्यापकजी मिले । कहने लगे-'अजी भाई साहब, तुम तो कुछ-का-कुछ ही कर रहे हो । ये सब ढोंग क्यों करते हो? नाखून काटो, बटन लगाओ, यह करो, वह करो । नये ढंग से पढ़ाने आए हो, बेशक पढ़ाओ ! ये काम तो माँ-बाप के हैं । वही करेंगे । हमें क्या पड़ी है? और सुनो, लड़कों को नंगे सिर तो पाठशाला में आने नहीं दिया जा सकता । यह तो असभ्यता होगी । इसके लिए साहब के हुक्म की जरूरत है ।'

मैंने कहा -'साहब, पढ़ाई की ये ही तो नई बातें और नई रीतियाँ हैं । मैले-कुचैले और बेढंगे लड़कों की पहली पढ़ाई और क्या हो सकती है? आप ही देखिए न, जब मैंने उन लोगों से कहा तो सब-के-सब शरमाए तो सही ! उनमें यह ख्याल तो पैदा हुआ ही है कि इस तरह गन्दा रहना ठीक नहीं । मुझे तो विश्वास है कि आगे बहुत से छात्र सफाई से रहने की कोशिश करेंगे । रही टोपियों की बात, सो इस सम्बंध में मैं बड़े साहब का मत जान लूँगा । और अगर उनका हुक्म न मिला तो यह परिवर्तन नहीं होगा ।'

मैं घर गया, भोजन किया और तुरन्त ही बड़े साहब के घर पहुँचा ।

'कहिए, आज इस समय कैसे?'

'जी, एक मामले में आपकी राय लेनी है ।'

'कहिए, क्या बात है?'

'क्या कक्षा में मैं और मेरे विद्यार्थी नंगे सिर नहीं आ सकते?'

'क्यों, किसलिए?'

'उनकी टोपियाँ इतनी ज्यादा गन्दी और फटी-पुरानी हैं कि वे बिना टोपी के ही आएँ तो इसमें क्या बुराई है? इस उमर में उनके सिर पर यह बोझ न भी हो तो क्या हानि है?'

'लेकिन लोगों को यह बात विचित्र और हास्यास्पद नहीं मालूम होगी?'

'सो तो होगी ही । पर इस सम्बंध में आपके क्या विचार हैं ?'

'मेरे विचार में तो अपने इस प्रयोग के सिलसिले में हम ऐसी सामाजिक बातों को न छुएँ तो ठीक हो । हमें तो पाठशाला की चारदीवारी के अन्दर बैठकर यही देखना है कि आज की शिक्षा-प्रणाली में क्या है और उसमें हम क्या सुधार कर सकते हैं । टोपी-वोपी को तो छोड़ो भाई !'

'आपका यह विचार मुझे थोड़ा संकुचित तो लगता है, लेकिन मैं तत्काल ही इसके लिए आग्रह नहीं करूँगा । आरम्भ में मैं लोगों का और आपका विरोध मोल लेना नहीं चाहता ।'

मैंने आगे कहा–'यदि लड़के कक्षा में नंगे सिर रहकर काम करें, तब तो कोई एतराज नहीं होगा न?'

साहब ने कहा–'नहीं, बिल्कुल नहीं । कक्षा में तो आप मनचाहा सुधार कीजिए । ऐसा करते-करते यदि लोग उसको स्वीकार कर लें तो टोपी पहनाने का मेरा अपना आग्रह बिल्कुल नहीं है ।'

मैंने कहा–'बहुत अच्छा । अब एक दूसरी बात भी पूछे लेता हूँ : मुझे अपनी कक्षा में एक छोटा-सा पुस्तकालय बनाना है । उसके लिए मुझे रुपए मिल सकेंगे?'

साहब ने कहा–'रुपए? भला रुपए कैसे मिल सकते हैं? यह प्रयोग तो एक तरह से तुम्हारे और मेरे बीच का है । बजट में जितने रुपए हैं, उन्हीं से हमें शाला चलानी है । पाठशाला में तुम्हारी श्रेणी के हिस्से में जो आठ-बारह आने आएँ, उन्हीं से सब खर्च चलाना होगा ।'

मैंने कहा–'तब क्या हो?'

साहब बोले–'तो अभी इस विचार को रहने दो ।'

मैंने कहा–'मेरे पास एक दूसरी योजना भी है । पर आप स्वीकार करें, तब ? और वह यह है कि हर एक छात्र को पाठ्यपुस्तकें तो खरीदनी ही पड़ती हैं । हिन्दी की चौथी पुस्तक, उसकी कुंजी और इतिहास की किताबें तो सब छात्र खरीदते ही हैं।'

'हाँ, सच है ।'

'तो मैं यह कहना चाहता हूँ कि छात्रों से पाठ्यपुस्तकें खरीदवाई ही न जाएँ और उन पुस्तकों की कीमत में पढ़ने योग्य अच्छी पुस्तकें खरीद ली जाएं और उनका एक पुस्तकालय बना दिया जाए ।'

'लेकिन पाठ्यपुस्तकों के बिना पढ़ाओगे कैसे?'

'जी, मैंने इसका विचार कर रखा है । पढ़ाने की पद्धति के परिवर्तन पर मुझे पूरा

विश्वास है । मैं आपको काम करके दिखाऊँगा और इस सम्बंध में आपको पूरा विश्वास भी दिला सकूँगा ।'

'बहुत अच्छा, मैं मानता हूँ । प्रयोग तुम्हारा है और परिणाम भी तुम्हीं को दिखाना है । लेकिन तुम्हें थोड़ी चेतावनी तो दे ही देनी चाहिए । देखो, छात्रों को आवारा मत बनने देना । प्रयोग में मैं तुम्हारे साथ तो हूँ, लेकिन ज़रा छाती धड़क जाती है ।'

मैंने कहा–'साहब आप विश्वास रखिए । एक बार देखिए तो सही ! हम प्रयत्न कर रहे हैं और ईश्वर ने चाहा तो सफलता भी हमारी ही होगी ।'

'अच्छा, लेकिन वर्ष के अन्त में तुम्हारे इस पुस्तकालय का क्या होगा? क्या छात्रों में वे किताबें बाँट दोगे?'

'जी हाँ, एक तरह से किताबें तो सारी कक्षा की ही होंगीं, और वे कक्षा वालों को वापस मिलनी ही चाहिए । लेकिन यदि मैं माँ-बाप को समझा सका कि वे पुस्तकें वापस न माँगें और कक्षा के पुस्तकालय में ही रहने दें तो पुस्तकालय स्थायी बनेगा, और हर साल उसमें नई-नई किताबें बढ़ती रहेंगी ।'

'पता नहीं तुम्हारी यह बात लोगों के गले उतरेगी भी ! बाकी विचार तो सुन्दर है। इसे एक अवसर तो अवश्य दे ही दो । लेकिन फिर भी सवाल यह उठता है कि पढ़ाते समय तुम पाठ्यपुस्तकों के बिना अपना काम कैसे चलाओगे?'

'जी, मैंने सब-कुछ सोच रखा है ।'

साहब से विदा लेकर मैं घर आया ।

7

दूसरे दिन पाठशाला खुली । मैंने सोचा था, शायद लड़के नंगे सिर आएँगे, लेकिन मेरी आँखे खुल गईं ! मालूम हुआ कि सबके माँ-बाप ने वैसा करने से इन्कार किया है । उन्होंने कहा था–'नंगे सिर भी कहीं जाते हैं? तुम्हारे शिक्षक तो पागल हैं !'

मैंने नाखून देखे, लेकिन दो-चार के ही कटे पाए । घर की अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ इसका कारण थीं । कोट के बटन टांकने की फुरसत किसे थी, जो टांकता? एक माँ ने तो यहाँ तक कहला भेजा था कि–'मास्टरसाहब, आप पढ़ाने आए हैं, तो पढ़ाइये ! पर ये नये-नये चोंचले क्यों निकालते हैं? हमें भी तो अपना कुछ कामकाज होगा न कि लड़के के नाखून ही काटते रहें ! इन लड़कों का तो ऐसा ही चलता रहता है ! हमें तो मरने की भी फुरसत नहीं, फिर आपकी यह बेगार कौन

ढोए !'

सुनकर मैं तो दंग ही रह गया ! सोचा था, पाठशाला खुलते ही कक्षा साफ-सुथरी मिलेगी, लेकिन उसके बदले मिले ऐसे-ऐसे सन्देश ! खैर, परवाह नहीं । मैंने सोचा–यों तो काम नहीं चलेगा । मुझे एक ओर तो माँ-बाप का सहयोग प्राप्त करना होगा और दूसरी ओर ऐसी कोई योजना बनानी पड़ेगी, जिससे छात्रों को पाठशाला में ही इन बातों का शौक हो जाए ।

उस दिन मैंने उनसे कोई बातचीत नहीं की । बस छूटते ही कहानी शुरू कर दी और शुरू की हुई कहानी पूरी सुना दी ।

लड़के कहने लगे–'दूसरी कहानी !'

मैंने कहा–'कल से नई कहानी शुरू करेंगे । आओ, आज हम थोड़ा खेल लें ।'

'खेल खेंले?' लड़के आश्चर्य से मेरी तरफ ताकते रहे ।

'हाँ, खेलेंगे । खेल खेलेंगे । कहो, तुम कौन-कौन से खेल जानते हो?'

'कई खेल जानते हैं । लेकिन उनको कक्षा में खेल कैसे सकते हैं?'

'क्यों नहीं खेल सकते?'

'जी, यह तो पाठशाला का समय है । इस समय कभी लड़के खेलते हैं? किसी दिन खेलते देखा है आपने ?'

लेकिन हम तो खेलेंगे । तुम्हारे साथ मैं भी खेलूँगा । आओ, हम खेलें ।'

कुछ लड़के तो पुतले की तरह खड़े ही रहे । कुछ 'हू-हू' करते हुए खेलने दौड़े । इतने में ही हो-हल्ला मच गया । दूसरी कक्षा के लड़के भी कमरों में से झांक-झांक कर देखने लगे । मेरे साथी शिक्षक भी मेरी ओर ताकते रह गए ।

इसी बीच प्रधानाध्यापक एकाएक आए और मुझे टोका–'देखिए, यहाँ पास में कोई खेल नहीं खेले जा सकते । चाहें, तो दूर उस मैदान में चले जाइए । यहाँ दूसरों को तकलीफ होती है ।'

मैं लड़कों को लेकर मैदान में पहुँचा ।

लड़के बेलगाम घोड़ों की तरह उछल-कूद मचा रहे थे । 'खेल ! खेल ! हाँ, भैया खेल !'

मैंने कहा–'कौन-सा खेल खेलोगे?'

एक बोला–'खो-खो ।'

दूसरा बोला– 'नहीं, कबड्डी ।'

तीसरा कहने लगा– 'नहीं, शेर और पिंजरे का खेल ।'

चौथा बोला– 'तो हम नहीं खेलते ।'

पांचवाँ बोला– 'रहने दो इसको, हम तो खेलेंगे ।'

मैंने लड़कों की ये बिगड़ी आदतें देखीं ।

मैं बोला–'देखो भई, हम तो खेलने आए हैं । 'नहीं' और 'हाँ' और 'नहीं खेलते' और 'खेलते हैं' करना हो तो चलो, वापस कक्षा में चलें ।'

लड़के बोले–'नहीं जी, हम तो खेलना चाहते हैं ।'

मैंने कहा–'तो आओ, आज खो-खो खेलें । दो जने नेता बन जाओ और दूसरे दो सलाह करके आओ ।' लड़के चले गए ।

फिर साथी तलाशने में बहुत देर लगी । एक कहता, मैं भीड़ बनता हूँ; दूसरा कहता, मैं बनता हूँ । आखिर मैंने दो जनों के नाम सुझा दिए और दो टुकड़ियाँ बना दीं, तब कहीं खेल शुरू हुआ ।

लेकिन यह तो गली-कूचों में खेलने वाले लड़कों का खेल निकला ! कोई जबान बन्द करके खेलता ही नहीं था । हर एक बिला वजह कुछ-न-कुछ बोलता ही रहता था: 'हाँ, आओ मियाँजी, पकड़ो !,' 'बस, पकड़ा, पकड़ा ! तुम्हारी क्या बिसात, जो तुम पकड़ सको!', 'ऐ, ज़रा सम्भालना ।', 'अरे वाह ज़रा देखो तो सही, वह उधर से निकल जाएगा ।', 'अरे, ध्यान रखो, ध्यान । देखो, मैं कहता न था कि वह निकल भागेगा? बड़े बातें करने लगे और उधर से वह निकल भागा ! लो, हार गए न !'

मैंने सोचा– यह खेल का मैदान है या भाजी-बाज़ार ? खो-खो का खेल है, या हल्ले-गुल्ले की बाजी?

खेल खत्म होते ही जीते हुए लड़कों में से एक ने कहा–'लो हम जीते । हाँ, हम ही जीते ! तुमने मेहनत तो खूब की, लेकिन कुछ हुआ भी ? भीड़ू अच्छा था तो क्या हुआ?'

सामने वाला चिढ़ा और चीख पड़ा – 'हाँ, मैं हारा ! तो बोलो, अब तुम क्या करोगे ?'

पहले वाला फिर बोला –'तुम हारे, हम जीते ! करेंगे क्या? जीते, जीते, जीते !'

हारने वाले के मुँह पर गुस्सा था । वह बोला–'बस, अब चुप भी रहोगे या नहीं? नहीं तो देखा है यह पत्थर ?

जीतने वाला बोला– 'देखा, देखा ! चिढ़ाएँगे, चिढ़ाएँगे और चिढ़ाएँगे । यह हारा, यह हारा, यह हारा !'

उसका गुस्सा काबू में नहीं रहा और उसने उठा कर पत्थर फेंक मारा। पत्थर एक दूसरे छात्र के सिर में लगा और लहू की धार बह चली। मैंने सोचा-यह तो बुरा हुआ। वहीं अपना रूमाल फाड़कर मैंने पट्टी बाँधी। सब लड़कों को अपने पास बुलाकर मैंने कहा-'देखो जी, कल से खेल बन्द।'

सब कहने लगे-'लेकिन साहब, यह तो इनकी लड़ाई थी, इसमें हमारा क्या कसूर?'

मैंने कहा-'तुम्हें मेरी दो बातें मंजूर हों तो मैं खेल खिलाऊँगा।'

सब बोले-'मंजूर हैं, मंजूर हैं!'

मैंने कहा-'पहली बात तो यह कि खेलते समय कोई बिना कारण न बोले। जो बोले, वह हट जाए।'

सबने कहा-'मंजूर है।'

'दूसरी बात यह कि खेल में हारने-जीतने की बात ही नहीं। खेल है, एक बार हम कमजोर रहे, तो दूसरी बार दूसरा। इसमें हम हारे और तुम जीते की बात ही क्या है? खेलने का मतलब है, खेलना, कूदना, दौड़ना और मौज करना। हारना और जीतना और फिर सिर फोड़ना, इसकी क्या जरूरत?'

सब बोले-'हमें यह भी मंजूर है।'

हम सब खेल-कूदकर पाठशाला में आए। साथ में सिर फूटा हुआ वह लड़का भी था। दूसरे शिक्षक और लड़के उसको देखने के लिए बाहर आए। एक मसखरे लड़के ने कहा-'क्यों, कैसा खेल खेला?'

दूसरा बोला-'अरे भाई, ये तो फाग खेलने गए थे।'

छुट्टी हुई और शिक्षक और प्रधानाध्यापक मुझसे मिले। एक शिक्षक ने कहा-'कहिए, आज तो बड़ा युद्ध करवा दिया आपने?'

दूसरे शिक्षक बोले-'अजी साहब, ये खेल-वेल आप रहने दीजिए। ये तो बन्दर हैं, बन्दर! इन्हें तो शाला की चार-दीवारी के अन्दर ही रखिए, रटाइए और पढ़ाइए। आप इनको आजाद कर देंगे तो ये सब एक-दूसरे का सिर फोड़ डालेंगे। गलियों में रोज क्या होता है, आप जानते नहीं?'

प्रधानाध्यापक बोले-'मैं सोच ही रहा था कि आज जरूर कुछ घटेगा, लेकिन ठीक ही तो है। इन महाशय को एक बार अनुभव की जो आवश्यकता है। बिना उसके ये सहज ही चुप नहीं बैठेंगे। कहीं पाठशाला में भी खेल खिलाए जाते हैं?'

(मैंने कहा-'साहब, खेल ही तो पढ़ाई है। दुनिया की बड़ी-बड़ी शक्तियाँ खेल के

मैदान पर ही पैदा हुई हैं । खेल का मतलब है, अनुशासन ।'

प्रधानाध्यापक बोले–'तभी तो मारपीट हुई और सिर फूटा ।'

बातचीत चल ही रही थी कि इतने में घायल लड़के के पिता लाल-पीले होते हुए आ पहुँचे । बोले–'हमें ऐसी पढ़ाई की जरूरत नहीं । देखिए, इसका यह सिर फटा पड़ा है । कहाँ हैं, प्रधानाध्यापक? किसने मारा है इसे ?'

मैंने कहा–'देखिए महाशय, लड़के खेलने गए थे, वहाँ आपस में ये लड़ पड़े और इसे चोट लग गई ।'

पिता ने कहा–'तो इसको खेलने की इजाजत किसने दी? पाठशाला में पढ़ाई होती है या खेल ? ये सारा दिन गली-कूचों में खेला ही करते हैं न ? आप लड़के को पढ़ाना चाहते हों तो भेजूँ, नहीं तो बन्द कर दूँ ।'

मैं चुपचाप सुनता रहा ।

प्रधानाध्यापक बोले–'भाई साहब, सुनिए ! ये महाशय हमारे एक नए शिक्षक हैं और पढ़ाई के नए-नए प्रयोग करते हैं । आज इन्होंने खेल का एक प्रयोग किया था । यह सिर की चोट उसी का परिणाम है ।'

लड़के के पिता बोले–'मुझे आपके इन प्रयोगों की जरूरत नहीं । लड़के को अच्छी तरह पढ़ाना हो तो पढ़ाइए, नहीं तो हटा लूँ ।'

दूसरे सब शिक्षक मूँछों में मुस्करा रहे थे । ऐसी स्थिति में मैं भला क्या बोलता?

घर गया । खाना अच्छा नहीं लगा । कमरे में जाकर बैठा और सोचने लगा–भई, यह तो एक आफत ही खड़ी हो गई ! खैर । उन्हें खेल के नियम तो बताए ही हैं, और भी बताऊँगा । बाकी, खेल तो खिलाने ही होंगे । मेरे विचार में तो खेल ही सच्ची पढ़ाई है ।

लेटे-लेटे एक विचार आया – माँ-बाप की एकाध सभा क्यों न कर लूँ? उनको खेल का महत्त्व क्यों न समझाऊँ? मैं उनसे स्वच्छता और व्यवस्था के बारे में सहयोग की प्रार्थना भी करूँगा । वे लोग मदद नहीं करेंगे तो मैं अकेला कर ही क्या सकूँगा? क्या अपने बच्चों के लिए वे इतना भी नहीं करेंगे? हम शिक्षक लोग माँ-बाप से सहयोग की प्रार्थना क्यों नहीं करते? यह दोष तो हमारा ही है । तो कल ही अभिभावकों की सभा क्यों न बुला लूँ?

8

सभा जुड़ी । पर इसको सभा कहा भी जाए या नहीं? चालीस माँ-बाप के नाम पत्र

भेजे गए थे, पर कुल सात अभिभावक ही आए थे। मेरी निराशा की सीमा नहीं रही। मैंने भाषण की बड़ी अच्छी तैयारी की थी। पर क्या करता? आखिर मैंने अपना भाषण शुरू कर ही दिया। सोचा, हमारा काम तो प्रयत्न करना है। भाषण का भी यह एक प्रयोग ही सही !

एक घंटे तक मैंने बड़ी गम्भीरता-पूर्वक भाषण दिया। सात सज्जनों में से एक को घर से बुलावा आ गया और वह चले गये। दूसरे दुविधा में फँसे मेरी बातें सुनते रहे। बातें सब महत्त्व की थीं और उनको समझाना बहुत जरूरी था।

मैंने उन्हें सच्ची और झूठी पढ़ाई का भेद बड़ी बारीकी से समझाया। मैंने उन्हें बताया कि आध्यात्मिक उन्नति का स्वच्छता के साथ क्या सम्बंध है। मैंने उन्हें खेल और चरित्र-निर्माण की जंजीर भी जोड़कर बताई। मैंने उन्हें अन्तःस्थल से उगने वाले सच्चे अनुशासन की महिमा और उसका महत्त्व समझाया, और आजकल की प्रचलित शिक्षा-पद्धति का और अनुशासन का खंडन किया।

लेकिन यहाँ तो चिकने घड़े पर पानी डालने वाली मिसाल थी। बेचारे दो-चार अभिभावक जो मारे शरम के आ गए थे, वे भी घर जाने को उतावले हो रहे थे। भाषण खत्म होते ही वे भी चले गए।

रह गए हम शिक्षक और हमारे अधिकारी। साहब ने ज़रा हँसकर कहा–'लक्ष्मीशंकरजी ! यह तो भैंस के आगे बीन बजायी गई ! भई, तुम्हारी इस फिलॉसफी को समझता कौन है ?'

पीछे से किसी शिक्षक ने धीमी आवाज में कहा–'अजी, मूर्ख है, मूर्ख !'

मुझे अच्छा तो नहीं लगा, लेकिन मैं ज़ब्त कर गया। मैंने मन ही मन यह अनुभव भी किया कि मैं अभी थोड़ा 'पठित मूर्ख' तो जरूर हूँ। मैं भी तो नहीं जानता कि साधारण लोगों के सामने भाषण कैसे करना चाहिए।

सब शिक्षक हँसते-हँसते घर चले गए।

9

दस-बारह दिन बीते और मैंने पुस्तकालय के काम को हाथ में लिया। कहानियाँ बहुतेरी कही जा चुकीं थीं। लड़के चौथे दरजे के थे। अब उनके हाथ में पुस्तकों के आने की जरूरत थी।

मैंने लड़कों से कहा–'कल चौथी पुस्तक और इतिहास के दाम लेते आना। यहीं से सब प्रबन्ध करेंगे।'

दूसरे दिन एक लड़का चौथी किताब और इतिहास लेकर ही आ गया। कहने लगा–'जिस दिन मैं चौथी में चढ़ा, उसी दिन पिताजी ने ये खरीद ली थीं।'

दूसरा बोला–'मेरे बड़े भाई के पास ये किताबें थीं। इन्हें ले आया हूँ।'

तीसरे ने कहा–'जी, मेरे लिए तो बम्बई से मेरे फूफा किताबें भेजने वाले हैं। यहाँ से नहीं ली जाएँगी।'

एक और लड़के ने कहा–'मेरे बाबूजी पैसे देने से इन्कार करते हैं। कहते हैं–'किताबें हम दिला देंगे।'

मैंने सोचा–मार डाला ! कल्पना में तो पुस्तकालय बनाना आसान था, लेकिन वास्तव में काम बड़ा टेढ़ा है। कुछ विद्यार्थी पैसे भी लाए थे। मैंने पैसे रख लिए और रसीद देकर लड़कों से कहा–'अच्छी बात है।'

दूसरे दिन लड़के कहने लगे–'हमारी चौथी पुस्तक ? हमारा इतिहास ?'

मैंने कहा–'तुम्हारे पैसों से मैं कहानी की ये नई किताबें लाया हूँ। तुम कहते न थे कि तुम्हें कहानी की किताबें पढ़ने में मज़ा आता है?'

लड़के बहुत खुश हुए। अच्छे-अच्छे रंगीन गत्तों और चित्रों वाली किताबें देखकर वे उन पर टूट पड़े।

मैंने कहा–'हमारे पास तो अभी सिर्फ पन्द्रह किताबें हैं। पन्द्रह जने पढ़ सकेंगे। बाकी के बीस मेरे पास आ जाएँ और मैं जो पढ़ता हूँ, उसको सुनें।' गड़बड़-घोटाले से बचने के लिए मैंने कहा–'पहले पन्द्रह विद्यार्थी किताबें पढ़ें और बाकी के सब मेरे पास आएँ।

पन्द्रह जनों ने पन्द्रह किताबें उठा लीं और उन पर भूखे बाघ की तरह टूट पड़े। मैंने कहा–'देखो, एक किताब पढ़ चुको तो मेज पर लाकर रख दो, और दूसरी वहाँ पड़ी हो तो उठा ले जाओ। इससे एक-एक करके तुम सबको सब किताबें पढ़ने को मिल जाएँगी।'

दूसरों को मैंने अपने पास बिठा लिया और आदर्श-वाचन शुरू किया। मैं प्रफुल्ल भाव से भाव-भंगिमा सहित पढ़ने लगा। लेकिन उन पन्द्रह जनों के पढ़ने की आवाज! ओह ! ज़रा रुक कर मैंने कहा–'अरे भाई ! तुम सब मन में पढ़ो। हमें कुछ दिक्कत होती है।' कुछ देर के लिए शोर कम तो हुआ, लेकिन उन्हें मूक वाचन की आदत ही नहीं थी। वे जोर से ही पढ़ा करते थे। कुछ देर धीमे पढ़कर वे फिर जोर से पढ़ने लगे। मैंने उन्हें बरामदे में अलग-अलग बैठकर पढ़ने को कहा और मैं अन्दर रहा।

आदर्श-वाचन खूब चला। कहानी रोचक थी, इसलिए सबने दिलचस्पी के साथ सुनी। घंटी बजने तक पुस्तक-वाचन और आदर्श-वाचन होते रहे और फिर हम घर की तरफ चल दिए।

10

कहानी और खेल, पुस्तकालय और आदर्श-वाचन, स्वच्छता और व्यवस्था की खटपट करते-करते दो-तीन महीने बात की बात में बीत गए।

मैं अपने काम का हिसाब लगाने बैठा। जो काम हो चुका था, उस पर एक नजर दौड़ा गया। मुझे पता चला कि अभी तो पाव सेर में पहली पूनी भी नहीं कती है। पाठ्यक्रम के हिन्दी, गणित, इतिहास और पदार्थ पाठ आदि विषयों में से तो कुछ हुआ ही नहीं था। दूसरी कक्षाओं में तो बहुत-कुछ हो चुका था और वर्ष के अन्त तक तो मुझे भी यह सब करके दिखाना ही था। मेरे प्रयोग की शर्त भी यही थी। खैर, यह सब तो ठीक ही है। पर मैं क्या-क्या कर चुका हूँ, सो तो देखूँ? कहानी सुनाने में मुझे खूब सफलता मिली है। इसके कारण लड़के काफी व्यवस्थित हुए हैं। लेकिन अभी चम्पकलाल और रमणलाल को कहानी अच्छी नहीं लगती। रामजीवन और शंकरलाल को कहानी बिल्कुल सरल मालूम पड़ती है। कहानी के समय राघव और माधव आँखें चलाया करते हैं, उँगलियाँ मटकाया करते हैं और दूसरों का मुँह चिढ़ाया करते हैं। इसका इलाज करना तो अभी बाकी ही है। हाँ, यह सच है कि खेल खिलाने के कारण बालक अब मेरे साथ खुलकर बातें करते हैं। वे मुझे अपना मानने लगे हैं, मुझसे डरते नहीं और खेल के बाद सब मेरा आदर्श-वाचन बड़े ध्यान से सुनते हैं। लेकिन अभी खेल की अव्यवस्था और शोर में नाम-मात्र की ही कमी हुई है। मेहनत तो खूब करता हूँ, लेकिन अभी रास्ता तय नहीं हो पाया है।

वाचनालय में अभी थोड़ी किताबें हैं। अब तक मैं माँ-बाप के गले यह बात उतार ही नहीं सका हूँ कि पाठ्यपुस्तकों के बदले पुस्तकालयों की रचना महत्त्व की है। मैं सोचता था कि भाषण देकर माँ-बाप को समझाने से सब कुछ ठीक हो जाएगा। लेकिन हमारे अभिभावकों ने तो केवल यही एक रट लगा रखी है कि 'पढ़ा दो।' दूसरी कोई बात सुनने की न तो उनको फुरसत है और न वह उनकी समझ में ही आती है। चिन्ता नहीं। यह सब तो लगकर काम करने से ही होगा। आज नहीं, तो कल। अभी मेरे पास समय भी तो है।

मैंने आगे सोचा–भई, यह प्रयोग तो बड़ा महाभारत काम निकला ! जितनी

अधिक हमारी कल्पना, ज्ञान और आदर्श, उतनी ही गम्भीर और बड़ी हमारी परेशानी! मुझे कई सवाल सता रहे थे। सफाई के सम्बंध में अभी कुछ हुआ ही नहीं था। टोपियाँ वैसे ही पड़ी थीं। कपड़े एक-दो दिन तक तो स्वच्छ पहने, लेकिन फिर वही पुराना ढर्रा शुरू हो गया। नाखून भी फिर फावड़े की तरह बढ़ने लगे थे। इन कामों के पीछे पड़े बिना छुटकारा नहीं था। चूँकि समाज में नई आदत डालनी है, इसलिए यह काम धीरज और बार-बार करने से ही सिद्ध होगा।

फिर अकेले लड़कों की ही चिन्ता तो है नहीं। बड़े साहब भी तो अब कुछ उतावली मचाये हुए हैं। उनके भी तो अफसर और विरोधी रहते हैं। वे यश के भागीदार तो बनना चाहते हैं, लेकिन परिणाम भी जल्दी चाहते हैं और मुझे मदद करने की उनकी शक्ति भी तो सीमित ही है !

मेरे साथी शिक्षकों का मुझमें जरा भी विश्वास नहीं। वे तो मुझे निरा मूर्ख समझते हैं। और हाँ, शायद मैं मूर्ख हूँ भी। वैसे तो अनुभवहीन ठहरा लेकिन उनकी इन मान्यताओं को और सिखाने की इन रीतियों को भई मैं तो हाथ जोड़ता हूँ। इन्हें देखकर मुझे तो बस कँपकँपी ही छूटती है। इससे तो मैं जो करता हूँ, वही लाख दरजे ठीक है। मेरे विद्यार्थी मुझे देखकर भाग तो नहीं जाते। वे मुझसे पर्याप्त प्रेम करते हैं। वे मेरा आदर भी करते हैं। आज्ञा भी मानते हैं। इन शिक्षकों को देखकर तो इनके छात्र भाग खड़े होते हैं और पीठ पीछे इनकी नकल करते हुए मैंने उन्हें अपनी आँखों से देखा है ! एक भी लड़का ऐसा नहीं जो शिक्षक के पास जाकर प्रेम से खड़ा हो सके और प्रेम से बातचीत कर सके। वे कक्षा में तो चुपचाप बिना हिले-डुले बैठते हैं, पर जब बाहर निकलते हैं तो इतना ऊधम मचाते हैं कि पूछो न ! अपने विद्यार्थियों को मैंने उचित स्वतंत्रता दी है। वे कक्षा में जो थोड़ी गड़बड़ कर लेते हैं, उससे अधिक गड़बड़ बाहर कभी नहीं करते। लेकिन मेरे साथी तो मुझ पर यह आरोप लगाते हैं कि मैं लड़कों को बिगाड़ रहा हूँ, उनको उद्दण्ड बना रहा हूँ- केवल कहानियाँ सुनाता रहता हूँ और पढ़ाता बिल्कुल नहीं। खेल-खेल में उलटे उनको आवारा बना रहा हूँ। अच्छा, देखा जाएगा। मेरे विचार में तो ये खेल और ये कहानियाँ ही आधो-आध शिक्षा हैं !

यह सब होते हुए भी मुझे कभी भूलना नहीं चाहिए कि मेरा काम विकट है। मुझे तो यह मानकर ही अपना काम करते रहना चाहिए।

टन्-टन् बारह बजे और मेरी विचारधारा टूटी। मैंने कहा- 'हे भगवन् ! अन्तिम सहारा तो तुम्हारा ही है।' इतना कह कर और सारी चिन्ताएँ उसी परमेश्वर को सौंपकर मैं यह कहता हुआ सो गया कि 'कल की कल देखेंगे'।

दूसरा खंड

प्रयोग की प्रगति

1

तीसरा महीना शुरू हुआ। मैंने सोचा, अब तो रोज के काम की डायरी रखनी चाहिए, जिससे खुद मुझे भी पता चलता रहे कि हफ्ते भर में कितना काम होता है। साथ ही मैंने एक-एक महीने के काम का आलेख भी रखा, जिससे मुझे डायरी की उपयोगिता का पता चला। मेरी यह डायरी 'लौग-बुक' जैसी नहीं थी, केवल दिशासूचक सूचीमात्र थी।

कहानी तो प्रतिदिन चलती ही थी; और खेल भी खेले जाते थे। बीच-बीच में बातचीत, आदर्श-वाचन और छात्रों के शरीर का निरीक्षण भी हो जाता था। वाचनालय भी धीमी चाल से आगे बढ़ रहा था।

2

मैंने पाठ्यक्रम के विषयों में से एक-एक को लेना शुरू किया। एक दिन सुबह मैंने कहा–'लिखो, श्रुतलेखन।' लड़के मेरी तरफ देखने लगे। उन्होंने शायद कभी सोचा ही नहीं था कि मैं इस ढंग का शिक्षक हूँ कि श्रुतलेखन लिखवाऊँगा या सबक सुनूँगा और दूँगा या नक्शा पूछूँगा और इसी तरह के और-और काम लूँगा। और एक तरह से तो मैं वैसा था भी नहीं। उन्होंने मुझे वैसा समझा भी नहीं था।

मैंने उनसे कहा–'लिखो।'

पर बहुतों के पास न तख्ती थी और न कलम ही। तख्ती और कलम व दूसरी किताबों की उन्हें जरूरत ही नहीं पड़ती थी, इससे वे कक्षा में खाली हाथ ही आने लगे थे। पास की कक्षा से मैंने तख्तियाँ और कलमें मंगवाईं और श्रुतलेखन लिखाने बैठा।

किसी ने मुहँ बनाया। कोई कहने लगा–'भाईजी, कहानी नहीं कहिएगा?' दूसरा बोला–'किताब तो पढ़ी ही नहीं, श्रुतलेखन किसमें से लिखवायेंगे?' दूसरे दो जने

बोले–'पहले हमें पढ़ लेने दीजिए कि गलतियाँ न हों।'

मैंने मन ही मन कहा–अरे, ये सब तो पूरे पुराने ढर्रे की पढ़ाई के चेले हैं। श्रुतलेखन का पुराना मतलब ये बखूबी जानते हैं और इसी कारण ये उससे भड़कते हैं। श्रुतलेखन इन्हें पसन्द नहीं, इसलिए ये उसकी तैयारी चाहते हैं।

मैंने पुस्तकालय की पुस्तकों में से एक पुस्तक उठाई और लिखाना शुरू किया। मैं पूरा एक वाक्य बोल गया। पर मैं दो-चार शब्द ही बोला था कि इतने में ही आधे-पूरे शब्द सुनकर वे लिखने में लग गए और पूरा वाक्य उन्होंने सुना भी नहीं! 'क्या कहा, भाई जी?', 'क्या लिखाया साहब?' कह-कहकर सब पूछने लगे।

मैंने कहा–'देखो, मैं तुम्हें बताऊँगा कि श्रुतलेखन किस तरह लिखना चाहिए। जब मैं बोलूँ तो तुम बराबर मुझे सुनो और बोल चुकूँ तो ठीक से समझकर लिख डालो और फिर दूसरा वाक्य सुनने के लिए मेरी ओर देखो।' मैंने इसी तरह लिखाना शुरू किया। लेकिन उनकी आदत एकाएक कैसे छूटती? आगे चलकर तो सबको यही नई आदत पड़ गई और फिर किसी को बार-बार पूछने की आवश्यकता ही नहीं रह गई। मैं भी सिर्फ एक ही बार बोल देता था। दुबारा नहीं बोलता था।

श्रुतलेखन लिखा गया और तख्तियाँ नीचे रखी गईं। मैंने जाँचा और जाना कि हिज्जों की भूलें बहुत हैं। जुड़वाँ अक्षरों का भी ठिकाना नहीं है और अक्षर भी बराबर और अच्छे नहीं लिखे गए हैं।

मैंने किसी की गलतियां नहीं निकाली थीं। एक-एक करके सब तख्तियां देखीं और लौटा दीं। सब कहने लगे – 'हमारी गलतियां कितनी हैं ? हमें ज्यादा नंबर दीजिए .... हमें ज्यादा नम्बर दीजिए .... इसे कम ....।

इतने में एक लड़का बोला–'अब तो लक्ष्मीशंकरजी भी हमें पढ़ाएँगे और नम्बर देंगे और ऐसी-ऐसी सब बातें होंगी।'

मैंने कहा–'मैं तो ऐसा कुछ भी नहीं करूँगा। ठीक बात है कि तुम सब लिखना जानते हो। कल फिर लिखना। ऐसा करते-करते तुम बहुत अच्छा लिखने लगोगे। रोज-रोज लिखोगे तो भला, लिखना आएगा क्यों नहीं? और गलतियाँ निकालकर करना भी क्या है?'

एक ने पूछा–'लेकिन नम्बर, और दर्जा?'

मैंने कहा–'जब तुम मुझसे कहानियाँ सुनते हो तो तुम्हें कोई दर्जा मिलता है ?'

'जी, नहीं।'

'अच्छे कपड़े पहननेवालों को कोई दर्जा मिलता है?'

'नहीं ।'

'और ये जो खेल खेलते हो, इनमें नंबर दिए जाते हैं?'

'नहीं ।'

'तुममें से कोई ऊँचा है और कोई ठिगना है । इसके लिए कोई तुम्हें नम्बर देता है?'

'नहीं ।'

'तुममें से कोई मोटा है और कोई दुबला-पतला है । इसमें दर्जा देने की कोई बात है ?

'नहीं ।'

'तुममें से कोई धनवान है और कोई गरीब है । इसके कारण तुमको कभी पाठशाला में नम्बर मिलते हैं? तुम चढ़ाए-उतारे जाते हो?'

'जी, नहीं ।'

'तो अब समझ गए न? हमारी कक्षा में दर्जा देने की आवश्यकता ही नहीं । जिसे कविता याद हो, वह गाए; न याद हो, याद कर ले । खेलना न आता हो तो देख-देखकर सीख ले; आता हो तो खूब खेले और मौज करे । श्रुतलेखन में जो अच्छे अक्षर लिखता है, उसे देख-देखकर दूसरे भी अपने अक्षर अच्छे बना लें । मैं किसी से कुछ पूछूँ और उसे वह याद न हो तो जिसको याद हो, वह उसे बता दे और नहीं, तो मैं बताऊँगा ही । बस, इतनी-सी तो बात है ।'

सब हैरान आँखों से मेरी ओर देखते रहे । उन्हें कुछ अचम्भा-सा हुआ था ।

आखिर मैंने कहा–'हमारी कक्षा' तो एक अनूठी चीज है । नई बात है । इसमें नए तरीके से ही काम होता है । यह 'हमारी कक्षा' है न, इसीलिए !'

'हमारी कक्षा' शब्द मैं दो-तीन बार जोर देकर बोला और लड़कों पर उसका रंग चढ़ा । कहने लगे–'हमारी कक्षा ! हमारी कक्षा तो एक अनूठी चीज है । हमारी कक्षा यानी एक नई बात !'

श्रुतलेखन के सम्बंध में मैंने एक हफ्ते के अन्दर खास-खास सभी सुधार कर डाले ।

छात्रों से मैंने कह दिया कि वे प्रतिदिन घर से किसी भी किताब की चार पंक्तियाँ देखकर सही-सही लिख लाया करें । स्वयं मैंने उन्हें प्रतिदिन दस मिनट वाक्य लिखाना शुरू किया । आपस में एक-दूसरे को लिखाने और एक-दूसरे की भूलें सुधारने के लिए भी उन्हें रोज के पन्द्रह मिनट सौंप दिए ।

संयुक्ताक्षरों का शुद्ध लेखन सिखाने के लिए मैंने कठिन जुड़वाँ अक्षरों और खासकर चौथी किताब में आनेवाले सारे जुड़वाँ अक्षरों की एक कापी उन्हें बनवा दी, और वह कापी सबको बारी-बारी से पढ़ने और तख्ती पर लिखने के लिए दे दी।

चौथी पुस्तक में आनेवाले कठिन हिज्जों की एक सूची बनाना मैंने शुरू कर दिया और इसका उपयोग भी सोच लिया।

अब हमारा काम ठीक चलने लगा था।

3

एक दिन पास के एक कमरे से एकाएक 'अरे बाप रे ! मरा रे ! मार डाला रे !' की आवाज आई।

हमारे कान खड़े हो गए। मैं कहानी सुना रहा था। लड़कों का ध्यान बरबस उधर चला गया। मैंने कहानी बन्द की और कहा–'एक विद्यार्थी जाकर देख आए कि बात क्या है? कौन रो रहा है, किसलिए रो रहा है?'

एक समझदार लड़का देख आया और कहने लगा–'जी, उस कक्षा के जीवनलाल को मास्टर साहब ने पीटा है।'

मैंने पूछा–'क्यों?'

'उसे भूगोल याद नहीं था।'

मैंने फिर पूछा–'तो इसमें पीटने की क्या बात थी?'

मेरा एक छात्र बोला–'जब कोई अपना सबक याद करके नहीं लाएगा तो और क्या होगा?'

मैंने कहा– 'लेकिन किसी को याद ही न रहा हो तो ?'

दूसरा बोला – सबक तो याद होना ही चाहिए। न होगा तो मास्टर और क्या करेंगे ? सजा तो देंगे ही।'

मैंने पूछा–'लेकिन किसी को घोटा लगाने पर भी याद न हो तो?'

तीसरा बोला–'तो भी मास्टर तो जरूर मारेंगे। वे और कर ही क्या सकते हैं? न याद होगा, तो मारेंगे, पीटेंगे, सजा देंगे !'

मैंने कहा– अच्छी बात है। तो बोलो, तुममें से कौन-कौन इस तरह मार खाने को तैयार हैं ?'

सब बोले– 'जी नहीं, तैयार कौन होगा ?'

मैं बोला–'मैं तुम्हें सबक दूँ और तुम याद करके न लाओ तो मुझे तुम्हें मारना

चाहिए या नहीं?'

'लेकिन हम सबक याद करके ही आएँगे।'

'तुम उसको रटो और फिर भी वह तुम्हें याद न रहे तो ?'

'तो क्या . . . . तो भी सजा मत दीजिएगा। यही अच्छा है। मारेंगे तो लगेगी। हाँ, हमें याद न रहे तो आप फिर पढ़ाइएगा, और हम फिर उसे घोटा लगाएँगे।'

मैंने कहा-'खैर। तो अब हम फिर कहानी शुरू करें न?'

लेकिन लड़कों का मन तो आज उस जीनवलाल में लगा था। वे कहने लगे-'देख लेना, जीवन तो ऐसा उस्ताद है कि बाद में शिक्षक को गाली देगा, दीवार पर उनकी तस्वीर बनाएगा और उनके नाम गालियाँ लिखेगा।'

मैंने कहा-'जीवन को ऐसा नहीं करना चाहिए। शिक्षक के साथ ऐसा व्यवहार ठीक नहीं।'

सब कहने लगे-'लेकिन शिक्षक भी तो उसे बहुत ही पीटते हैं।'

मैंने कहा-'तो इसका कोई उपाय है?'

लड़के बोले-'हाँ, उसको पीटना नहीं चाहिए।'

मैंने कहा-'फिर सबक का क्या होगा?'

लड़कों ने जवाब दिया-'जो सबक याद करके न लाए, उसको पाठशाला में से निकाल दिया जाए। नाहक मारने से क्या फायदा ? यदि पीटने से विद्या आती हो तो लड़के पिटते तो रोज ही हैं न?'

एक ने कहा-'अजी, जीवन का तो पढ़ने में मन ही नहीं लगता। उसे तो खरगोश पकड़ने का शौक है और ढोर चराने का वह रसिया है।'

दूसरा बोला-'भैया, जीवन तो मदरसे में ही पिटता है। बाकी बाहर तो वही सब लड़कों को पीटता है। हम सब उससे डरते हैं।'

मैंने पूछा-'वह किस जाति का है?'

लड़कों ने कहा-'जी, वह जाति का कोली है। उसके पिता सरकारी नौकर हैं और वे उसे जबरदस्ती पढ़ाते हैं। पढ़ाने के लिए उन्होंने एक शिक्षक भी रखा है।'

मैंने कहा-'खैर, गोली मारो इसे। चलो, हम तो अपनी कहानी पूरी करें।'

कहानी खत्म करके हम उठे और इतने में घंटी लगी। मैं सजा और उसके परिणामों पर विचार करता-करता घर पहुँचा। मुझे तो किसी को सजा देनी ही नहीं थी, इसलिए मैं अपने मन में निश्चिंत था।

इसी तरह कुछ दिन और बीत गए।

4

एक दिन मैं साहब से मिला तो मैंने कहा–'साहब, एक ऐसा हुक्म जारी कर दीजिए कि पाठशाला में आनेवाले बालकों को साफ कपड़े पहनकर ही आना पड़ेगा। सिर पर टोपी पहननी है तो वह मैली नहीं होनी चाहिए। बाल रखने हों तो वे कंघी किए हुए होने चाहिएँ। हर हफ्ते बालक ने नाखून काटने चाहिए और बाल बढ़े हुए हों, तो बाल भी। बिना बटन या अधूरे बटन का कोट कभी कोई नहीं पहने। हर एक विद्यार्थी नहा- धोकर ही शाला में आए, कम-से-कम मुँह और हाथ-पैर धोकर तो जरूर आए।'

साहब ने शान्ति से सुना, हँसे और कहने लगे–'क्यों, क्या माँ-बाप तुम्हारे समझाए समझते नहीं हैं?'

मैंने कहा–'जी, मैं उनको बहुतेरा समझाता हूँ, पर बात कुछ गले उतरती ही नहीं उनके। अच्छे-अच्छे धनवान माता-पिता भी नहीं समझते। कहते हैं–'बचपन में हम भी इसी तरह पाठशाला जाते थे।' आगे कहते हैं–'रोज-रोज यह सब कौन करे? भई, आपका काम पढ़ाने का है तो आप पढ़ाइए न? यह सब हम देख लेंगे।' अब तक बहुत कम सुधार हो सका है। और सच तो यह है साहब कि मैं तो ऐसे विद्यार्थियों को पढ़ाना पसन्द ही नहीं करता।'

साहब बोले–'तुम बिल्कुल सच कहते हो ! हमारा जन-समाज कुछ ऐसा ही है। इस समाज को संस्कारी बनाना, असम्भव को सम्भव करना है। फिर भी जब से यह विभाग मेरे हाथ में आया है, तब से माँ-बाप पर भी हमारा कुछ ठीक असर पड़ा है।'

मैंने कहा–'तो आप यह हुक्म जारी नहीं कीजिएगा?'

'भई, ऐसा हुक्म तो मैं नहीं निकाल सकता। यह मेरे अधिकार से बाहर की बात है।'

'आपके अधिकार से बाहर की? तो फिर आप इतने बड़े अधिकारी कैसे?'

'भई, यह तो एक छोटी-सी रियासत है। लेकिन दूसरी जगह भी अधिकारियों के हाथों में ऐसी सत्ता नहीं रहती।'

मैंने कहा–'तो फिर?'

साहब बोले–'तुम बड़ी सत्ता को हिलाओ। वहीं से ऐसा हुक्म जारी हो सकता है। पर लोग इन हुक्मों का पालन कब करते हैं? और अगर उन्होंने हमारा हुक्म न माना तो हम उनका क्या कर लेंगे?'

'हम उनके बालक को पाठशाला से बाहर न निकाल देंगे?'

'यह नहीं हो सकता। यदि हमने ऐसा किया तो बड़ा हो-हल्ला मच जाएगा।'

मैंने कहा–'जी, हो तो सब सकता है। लेकिन बिना सत्ता के चतुराई किस काम की? सच तो यह है कि हम शिक्षक हैं ही किस बिसात में ?'

साहब बोले–'खैर, यही सही। अभी तो जैसा चल रहा है, वैसा ही चलाए रखो।'

'जी, सो तो हो नहीं सकता। आखिर मैं तो पाठशाला के अन्दर जितनी कोशिशें हो सकेंगी, करके छोड़ूँगा। बालकों में वैसी आदतें पैदा करूँगा। यही नहीं, फुरसत मिलने पर इस सम्बंध में सार्वजनिक रूप से आन्दोलन भी करूँगा। और साहब, सच तो यह है कि लोग कितने ही लापरवाह क्यों न हों, इसमें शक नहीं कि हमारे विद्यालयों का यह गन्दा वातावरण हजारों रोगों का घर है। हमें इसे मिटाना ही होगा।'

साहब ने कहा–'ठीक है, तुम जैसा चाहो, करो। प्रयोग करने तो आए ही हो। लेकिन यह चौथा महीना पूरा होने को आया है। याद रखो, समय सरपट बीता जा रहा है।'

नमस्कार करके मैं घर आया। मैंने अपने खर्चे से ('कंटीजेंसी' में तो था ही क्या जो कुछ खरीद सकता?) दो उम्दा झाड़ू खरीदे। एक छोटा-सा आईना लाया, एक कंघा, खादी का एक तौलिया और एक छोटी-सी कैंची खरीदी। गनीमत थी कि पाठशाला के अहाते में पानी का एक नल था। उस दिन मैंने कक्षा में यह सब तैयारी करके रखी।

दूसरे दिन मैंने लड़कों को एक कतार में खड़ा किया। अब तो वे भली-भाँति प्रभावित हो चुके थे। वे मुझसे प्रेम भी करने लगे थे। उन्हें विश्वास हो चुका था कि मैं जो कुछ भी करता हूँ, उनके लाभ के लिए ही करता हूँ।

मैंने आईने में सबको उनके मुहँ दिखाए और कहा–'देखो, अगर तुम समझते हो कि तुम्हारा मुँह, आँखें या नाक गंदी है तो नल पर जाकर उनको धो लो। अपने हाथ-पैर भी धोओ और बाल भिगो लो।'

बस, सब 'हा-हू' करते हुए एक साथ भागे और एक पर एक गिरते-पड़ते मुँह, हाथ, पैर, वगैरा धोने लगे।

मैंने सोचा–इन लोगों को क्रम से चलना और क्रम से काम करना सिखाना पड़ेगा। इस तरह की भागमभाग तो हमारा सारा समाज करता ही है। इस फूहड़पन से तो हमें इन लोगों को बचाना ही चाहिए।

फौरन ही मैंने वहाँ एक लकीर खींच दी और कहा–'देखो, तुम सब इस लकीर पर खड़े रहो और बारी-बारी से नल पर जाओ।'

मैं दोनों हाथों में खादी के तौलिए लेकर खड़ा रहा और लड़के दोनों तरफ से हाथ, पैर, मुँह, सिर आदि पोंछने लगे।

पाठशाला के अहाते में इस तरह का यह काम पहले-पहल ही हो रहा था। इसी कारण रास्ते चलते लोग भी देख रहे थे कि आज यहाँ यह क्या हो रहा है?

हाथ-मुँह आदि धो चुकने के बाद हम कक्षा में गए। वहाँ उन्हें कंघा देते हुए मैंने कहा–'देखो, अपने-अपने बाल सँवार लो।' टोपियाँ मैंने उनकी एक कोने में रखवा ही दी थीं। लड़के अब स्वच्छ, सुन्दर और स्वस्थ दिखते थे। मैंने खड़िया मिट्टी से एक गोला बनाया और सबको उस पर बिठाया। मैं भी वहीं बैठा और मैंने उनसे कहा–'देखो, अब तुम्हारे हाथ कितने साफ हैं ? तुम्हारा मुहँ कितना सुन्दर लगता है? तुम्हें यह पसन्द है या नहीं?'

सबने कहा–'जी हाँ, पसन्द है?'

मैंने कहा–'तो देखो, रोज पाठशाला में आकर पहले तुम यह काम कर लिया करो। बाद में हम दूसरे काम करेंगे।'

उस दिन मुझे बहुत अच्छा लगा। मेरा मन प्रसन्न था। मैंने कहा–'आओ, आज हम एक कविता गाएँ।' पहली कविता जो मैं बोला, वह एक प्रार्थना थी। अनायास ही आज मेरे मुँह से प्रार्थना निकल गई।

उस दिन नाखून का काम रह गया। कपड़ों और बटन का तो बाकी था ही। फिर भी तत्काल इनका विचार छोड़कर मैंने उस दिन का दूसरा काम शुरू कर दिया।

5

मैंने सोचा, इतिहास की शिक्षा की नींव तो मैं कहानी के द्वारा डाल ही चुका हूँ। अब कविता की नींव लोकगीतों के गायन द्वारा डालूँ। मैंने गहरे विचार के बाद निश्चित कर लिया था कि पहले छः महीने मुझे बुनियादी काम करना है और बाद के महीनों में मुझे उस पर विधिवत् पढ़ाई की इमारत खड़ी करनी है।

जब विद्यार्थियों को इस तरह की कोई नई बात मिलती है तो उससे उन्हें विनोद के साथ आनन्द और प्रसन्नता भी प्राप्त होती है। मैंने लोकगीत का श्रीगणेश करते हुए कहा–'देखो, मैं तुमसे गीत गवाऊँगा। तुम सब गाना।'

मैंने गाया–'कान्हा कलेजे की कोर, सखी री, कान्हा कलेजे की कोर।'

लेकिन मेरे साथ कोई गा ही नहीं सका।

मुझे आश्चर्य हुआ। चौथी कक्षा के विद्यार्थी इतना भी नहीं गा सके? पर उन्हें

गाने की आदत तो थी ही नहीं! मैंने दूसरा गीत छेड़ा –

'मेरा है मोर, मेरा है मोर; मोती चरन्ता मेरा है मोर।'

इस बार उन्होंने कुछ-कुछ गाया।

लेकिन जब पच्चीस - तीस लड़कों ने एक साथ गाना शुरू किया तो उनके कोलाहल से सारी कक्षा गूँज उठी !

पड़ोस के एक शिक्षक आए और बोले– 'भाई, बस करो यह आवाज! हम तो बहरे हुए जा रहे हैं।'

दूसरे शिक्षक ने कहा–'ये महाशय तो रोज एक-न-एक नया प्रयोग करते हैं। ये हमें अपने छात्रों को सुख से पढ़ाने भी देंगे या नहीं? इन्हें परवाह ही क्या है? ये इस प्रयोग में सफल हो गए तो साहब हमसे भी कहेंगे कि लो करो, इस तरह और उस तरह; और यदि सफल न हुए तो अपना बोरिया-बिस्तर लेकर चल देंगे।'

इतने में प्रधानाध्यापक आ गए। बोले–'अजी, लक्ष्मीशंकरजी ! यह कोई चटशाला है जो आप यहाँ मुख-पाठ की तरह कविता गवा रहे हैं? देखो, ये इनके नए प्रयोग हो रहे हैं ! अरे, इन गीतों को तो सभी जानते हैं !' कहकर वे चले गए।

उनके जाने पर मैंने सोचा, भई तुम बुरे फँसे। खैर ! सहगान को अभी एक ओर रखो और गान-श्रवण शुरू करो।

मैंने लड़कों से कहा–'ठहरो, मैं गाऊँगा और तुम सब सुनना।'

मैंने 'नथ घड़ दे सोनारा रे, मोरी नथ घड़ दे सोनारा' पद गाया। मेरी आवाज तो गधे को ही मोहित करने वाली थी। लेकिन संतोष इतना था कि वह बेसुरी नहीं थी। किसी तरह काम चला लिया। मैंने मन में कहा, भगवान ने मुझे एक कंठ और दे दिया होता तो क्या कहना था? चूँकि मैंने ढंग से और अभिनयपूर्वक गाया था और अभिनय का कुछ अभ्यास भी मैंने किया था, इसलिए मेरा गाना कुछ लड़कों को पसन्द आया। पर कुछ तो इस बीच उदासीन हो गये थे और कुछ एक-दूसरे से छेड़खानी भी करने लगे थे। वह चम्पकलाल तो कानी आँख बनाकर मेरी मसखरी ही कर रहा था। मैं भी यह सब देख रहा था। लेकिन मैं चुप रहा, क्योंकि उनकी इन्हीं आदतों को तो मैं सुधारना चाहता था।

जो छात्र संगीत के रसिया नहीं थे, उनसे मैंने कहा–'भई, तुम अलग जा कर बैठो। अपनी तख्ती पर जो चाहो, लिखो या कोई चित्र बनाओ।'

मैंने दूसरा गीत गाया। लड़कों की दिलचस्पी बढ़ी। फिर तीसरी चीज कही। उन्होंने दूसरे गीत को खूब पसन्द किया और मुझे वह फिर गाना पड़ा। जैसे-जैसे मैं

गाता गया, उनका रस बढ़ता गया । अन्त में मैंने लड़कों से कहा–'देखो, मैं रोज तुम्हें ऐसे-ऐसे गीत गाकर सुनाऊँगा । लेकिन एक शर्त है, पाठशाला के अहाते में तुम इन गीतों को मत गाना ।'

पर दो दिन के अन्दर तो लड़के जहाँ-तहाँ 'नथ घड़ दे' गुनगुनाने लगे । मैंने उन्हें समझा दिया था कि गाना ही चाहो तो मदरसे के बाहर गाना, मदरसे में नहीं ।

गाँव के लोग आपस में बतियाने लगे–'भई, ये गीत किस जात के हैं?'

भगवान दर्जी ने कहा–'ये तो नवरात के गरबे मालूम पड़ते हैं ।'

रघुजी बोले–'तो यह मास्टर कोई गरबे वाला होगा ! क्या यह गरबे सिखाने आया है?'

लड़कों की माताएँ कहने लगीं–'तुम्हारे मास्टर मदरसे में औरतों के गीत क्यों गवाते हैं?'

पर अपने राम तो यह सब सुनी-अनसुनी ही करे जाते थे । सुनने बैठो तो कान पक जाएँ और काम भी न कर पाओ, सो अलग । हमें तो बस जूझना चाहिए । नए क्षेत्र इसी तरह तो तैयार होते हैं ।

मैं प्रतिदिन लड़कों के सामने नई-नई कविताएँ गाने लगा और देखने लगा कि उन्हें कौन सी कविता ज्यादा पसन्द आती है । ऐसा करते-करते मेरे दस-पन्द्रह गीत तो लड़कों को यों ही याद हो गये । हाँ, दो-चार लड़के ऐसे जरूर थे, जिन्हें संगीत से प्रेम ही नहीं था । वे संगीत के समय में पढ़ते-लिखते रहते थे और मैं भी उनकी विशेष चिन्ता नहीं करता था ।

इन्हीं दिनों मैंने मन-ही-मन रास-क्रीड़ा का एक कार्यक्रम बना लिया था और मैं उसे आरम्भ करने का संकल्प भी कर चुका था ।

इस समय मेरी कक्षा में लगभग इस प्रकार के काम चल रहे थे: वार्ता-कथन, पुस्तक-वाचन, आदर्श-वाचन, खेल, श्रुतलेखन, कविता-श्रवण, स्वच्छता और प्रार्थना।

6

एक दिन हमारी पाठशाला में एक परमहंस साधु आए । साथ में प्रधानाध्यापक भी थे । प्रधानाध्यापक ने उनका परिचय कराते हुए मुझसे कहा–'ये महाराज एक अच्छे धर्मोपदेशक हैं । विद्यार्थियों से इन्हें बड़ा प्रेम है । हर एक राज्य की पाठशालाओं में छात्रों को उपदेश देने की सुविधाएँ इन्हें प्राप्त हैं । आज ये साहब की चिट्ठी लेकर हमारी पाठशाला के छात्रों को उपदेश देने आए हैं ।'

मैंने आदरपूर्वक उनको नमस्कार किया, कुर्सी दी और कहा–'तो भगवन्, आप अपना कार्य आरंभ कीजिए।'

लड़के तो महाराज के मुँडे हुए सिर और मुँह की ओर ही देख रहे थे। उनका दुबला-पतला शरीर, कान्तिपूर्ण मुख-मुद्रा और हाथ का कमण्डल लड़कों का कौतूहल जगाने के लिए काफी थे।

मैंने विद्यार्थियों से कहा–'देखो बच्चों ! ये स्वामीजी तुम्हें उपदेश देंगे, तुम सब ध्यान देकर सुनो।'

लड़के अब मेरी आज्ञा समझने लगे थे। वे शान्ति से बैठ गए।

स्वामीजी उपदेश देने लगे–'विद्यार्थियो ! इस जगत में ईश्वर ही सबसे बड़ा है। यह दुनिया उसी ने पैदा की है। उसी के कारण यह जग है और वही हमारा आदि कारण है।'

इस तरह ईश्वर की महिमा कही जाने लगी। मैं चुप बैठा था। मेरे विद्यार्थी शान्त थे। लेकिन धीरे-धीरे उनमें अशान्ति फैल रही थी। कोई उदासीन होने लगा, कोई तख्ती पर कंकर से रेखाएँ खींचने और बिन्दु बनाने लगा, कोई किताबें उलटने-पलटने लगा, किसी की आँखें कुछ-कुछ लाल होने लगीं। कोई एक उँगली दिखाकर बाहर चला गया। एक गया तो उसके पीछे दूसरा भी गया। एक-दो छात्र आपस में बातें करते जा रहे थे। मैंने उन्हें चुप रहने का इशारा किया और वे चुप हो गए।

स्वामीजी से मैंने विनयर्पूक कहा–'महाराज ! कोई सरल-सी बात कहिए जिसे ये छात्र समझ सकें।'

वैसे, स्वामीजी बड़े सरल स्वभाव के थे। तत्काल उन्होंने हिन्दू-धर्म व उसके ग्रन्थों के विषय में चर्चा शुरू की। लेकिन छात्रों को उसमें भी मजा नहीं आया।

मैं मन-ही-मन विचार कर रहा था–क्या धर्मोपदेश इसी तरह किया जाता है? क्या धर्म का तत्त्व जो अति गूढ है और जिसको जानने के लिए सारा जीवन खपा देना पड़ता है, इसी तरह समझाया जा सकता है? क्या यही धर्म की शिक्षा और धार्मिक ज्ञान है? क्या धर्म का यह ज्ञान थोथा और निरुपयोगी नहीं होता?

मैं यह विचार कर ही रहा था कि इतने में स्वामीजी ने कुछ श्लोक पढ़ने शुरू किए। विद्यार्थी मन मारे उनकी बातें सुन रहे थे, लेकिन समझ नहीं सकते थे, और इसीलिए अधिकतर केवल मनोविनोद की दृष्टि से हुँकार दे रहे थे।

सचमुच स्वामीजी बड़े गंभीर भाव से अपनी बातें कह रहे थे। उनके विचार में

उनका यह कार्य आवश्यक और पवित्र था। वे अपने कर्त्तव्य का ठीक ही पालन कर रहे थे, लेकिन लड़कों के लिए तो यह सब भैंस के आगे बीन बजाने जैसा ही था।

अब स्वामीजी ने श्लोकों का अर्थ समझाना शुरू किया। लड़कों को वह भी सुनना पड़ा। फिर उन्होंने अर्थ को तख्ते पर लिखा और लड़कों से कहा कि वे इन्हें अपनी कापी पर उतार लें। इसके बाद स्वामीजी ने कहा–'इन श्लोकों को तुम प्रतिदिन प्रात: उठकर पढ़ा करो, साँझ को सोते समय भी इनको पढ़ो। इससे तुम्हारी बुद्धि बढ़ेगी, बल बढ़ेगा,तेजस्वी बनोगे।'

मेरी कक्षा के दस-दस, बारह-बारह वर्ष के ये बालक ! भला इन्हें क्या पड़ी है धर्म और श्लोकों से? लेकिन उन्होंने श्लोक लिखे और उनके अर्थ भी लिखे।

मेरे विचारों की श्रृंखला टूटी नहीं थी–क्या धार्मिक शिक्षा के लिए दूसरी कोई जगह नहीं रही कि अब वह पाठशालाओं में दी जा रही है? पहले तो देवालयों में प्रवचन हुआ करते थे और घरों में माता-पिता कहे अनुसार अपना व्यवहार करते थे। घर के ये आचार-विचार लड़कों को धार्मिक शिक्षा का काम देते थे। लेकिन अब या तो लोगों को धार्मिक प्रवचन सुनने की फुरसत नहीं है, या बड़े-बूढ़े उन्हें सुन-सुनकर इतने तृप्त हो गए हैं या ऐसा और कुछ हुआ है कि अब यह काम पाठशाला का एक अंग बन कर रह गया है। मैं यह सब सोच ही रहा था कि इतने में घंटी बज गई।

थके हुए लड़के स्वामीजी को प्रणाम करके अपने घर गए। रह गया मैं और स्वामीजी। मैंने कहा–'महाराज ! आज की भिक्षा मेरे घर ही ग्रहण कीजिए न?'

हम भोजन करने बैठे। बातों ही बातों में धार्मिक शिक्षा की चर्चा छिड़ गई। स्वामीजी ने कहा–'देखो भाई, आजकल धर्म जैसी वस्तु का लोप होता जा रहा है, इसलिए आरम्भ से ही धार्मिक शिक्षा द्वारा हमें अपनी नई पीढ़ी को आस्तिक बनाना होगा।'

मैंने कहा–'किन्तु स्वामीजी इन छात्रों के सुकुमार मस्तिष्क ईश्वर, आत्मा और धर्म जैसे कठिन विषयों को ग्रहण कैसे कर सकते हैं? प्रवचन करते समय आज आपने अनुभव किया होगा कि उसमें वे ज़रा भी रस नहीं ले पा रहे थे और केवल शिष्टाचार के विचार से ही वे चुप बैठे हुए थे।'

स्वामीजी बोले–'भई, बात आपकी ठीक है। लड़कों को खेलना-कूदना ही अधिक प्रिय होता है। कथा-कहानी से भी उन्हें प्रेम होता है। लेकिन धर्म की चर्चा उन्हें पसन्द हो या न हो, उनके सामने करनी तो अवश्य चाहिए, और कुछ धार्मिक श्लोक उनको कंठस्थ भी करा देने चाहिए।'

किन्तु स्वामीजी ! धर्म केवल जीभ पर ही नहीं रहता। धर्म तो एक जागृति है, जिसका अन्तःस्थल में जागना ही उचित है। यह भावना तभी जागती है, जब मनुष्य को इसकी भूख लगती है। इसका भी अपना एक समय होता है। स्वामीजी ! क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि यह सब इन छात्रों पर असमय का बोझ लादने के समान है ?'

स्वामीजी ज़रा सोच में पड़ गए। मैंने फिर कहा-'महाराज ! धर्म एक सत्य वस्तु है। वह मनुष्य के जीवन के लिए नौका के समान है। मनुष्य का जीवन-लक्ष्य संसार रूपी सागर से पार होना है। लेकिन क्या यह सच नहीं है कि यह सब बहुत कठिन है, साधारण बुद्धि की पहुँच से परे है, और इसके लिए बहुत अधिक परिश्रम आवश्यक है।'

स्वामीजी ने कहा-'हाँ, यह बात ठीक है। लेकिन ..... ।'

मैंने ज़रा बीच ही में कहा-'धर्म कोई गाजर-मूली नहीं, न वह बाजारू वस्तु ही है। पुस्तक में छपी हुई बातें ही धर्म नहीं हैं। क्या आप यह अनुभव नहीं करते कि ऐसी महत्त्व की बात को तो अधिक-से-अधिक गूढ और गुप्त रखना चाहिए और कठोर परिश्रम के बाद ही वह साधक को प्राप्त होनी चाहिए?'

स्वामीजी -'हाँ, इसीलिए तो हमारे पूर्वजों को गुरु के आश्रम में रहना पड़ता था और धर्म को समझने के लिए शरीर को कष्ट देना पड़ता था।'

मैंने कहा-'लेकिन आज तो हम घर-घर और मदरसे-मदरसे उपदेश करके लोगों में धर्म का प्रसाद बाँटने निकल पड़े हैं !'

स्वामीजी -'भई, यह कलियुग है न। आजकल गुरु के पास शिष्य-भाव से जाने वाले हैं ही कितने?'

मैंने कहा-'नहीं हैं, तो धरे रहें। धर्म को यों बेचने या भेंट करने से कोई धर्मात्मा नहीं बन सकता !'

स्वामीजी -'तो आप ही बताइए कि क्या किया जाए?'

मैंने कहा-'मेरी समझ में तो छोटे बच्चों को धर्मोपदेश न करना ही अच्छा है। उनको तो इस समय स्वस्थ शरीर, स्वस्थ मन, निर्मल बुद्धि और कभी न थकनेवाली क्रियाशक्ति की आवश्यकता है - और आवश्यकता है उन्हें हर तरह बलवान बनाने की।'

स्वामीजी ने कहा-'सच है, जो बलवान होंगे, उन्हीं में आत्मबल भी होगा।'

मैंने कहा-'मेरा तो अटल विश्वास है कि समय आने पर मनुष्य में यौवन और

बुढापे की तरह धर्म-जिज्ञासा का भी स्वयं विकास हो जाता है । असमय के गृहस्थाश्रम की भाँति असमय का यह धर्म-परिचय भी मुझे असामयिक ही मालूम पड़ता है । बचपन ही से धर्म को प्रतिदिन की चर्चाओं और श्लोक-पाठ का विषय बना डालने से तो उलटे उसके विषय की सच्ची जिज्ञासा ही मंद पड़ जाती है । धार्मिक क्रियाओं का भी अपना महत्त्व है, पर यह आवश्यक नहीं कि उन्हें इतना महत्त्व दे दिया जाए कि उनके कारण मनुष्य का विकास ही रुक जाए और मनुष्य जड़वत् बन जाए ।'

स्वामीजी –'आप सच कहते हैं । मेरा भी कुछ ऐसा ही विश्वास है । इतने दिनों के अनुभव के बाद मैं यह तो महसूस कर ही रहा था कि इस प्रतिदिन के प्रवचन से थोड़े ही समय में विद्यार्थी ऐसे विषयों से उकता जाएँगे । मैं अब यह भी मानने लगा हूँ कि हमें किसी दूसरे ही ढंग से उन्हें धार्मिक शिक्षा देनी चाहिए ।'

मैंने कहा–'क्षमा कीजिएगा, स्वामीजी ! मैं तो यह कहता हूँ कि हम धर्म को जीवन में उतारने का प्रयत्न करें । माता - पिता भी प्रयत्न करें और शिक्षक भी प्रयत्न करें । पाठ्यपुस्तकों में दूसरी कथाओं के साथ धार्मिक पुरुषों और प्रसंगों की कथाएँ भी दी जा सकती हैं । समय आने पर बालकों को दूसरी कथाओं की तरह पुराण और उपनिषद् की कथाएँ भी सुनाई जा सकती हैं । जिस प्रकार हम ऐतिहासिक पुरुषों की कहानियाँ सुनाते हैं, उसी प्रकार बालकों को धर्मात्मा पुरुषों की कथाएँ भी सुना सकते हैं । बालकों के लिए शुरू के वर्षों में इतनी तैयारी पर्याप्त है । कर्मकांड और श्लोक-पाठ, धर्म-शिक्षण और धार्मिक पुस्तकों के अभ्यास को हम भविष्य के लिए छोड़ सकते हैं ।'

स्वामीजी ने कहा–'ऐसी दशा में आप मुझे क्या काम दीजिएगा?'

मैंने कहा–'बालकों की शिक्षा का । आप भी मेरी तरह बालकों को पढ़ाने बैठिए।'

स्वामीजी ने कहा–'स्वामी बनकर अब मैं शिक्षक का काम करूँ?'

मैं बोला–'यही तो आपका काम है महाराज ! आप लोग बालकों की शिक्षा का काम सँभाल लें तो अच्छे शिक्षकों का अभाव दूर हो जाए और इस दिशा में सच्चा काम होने लगे ।'

स्वामीजी ने हँसते-हँसते हाथ-मुँह धोया ।

उस दिन से स्वामीजी का और मेरा परिचय खूब बढ़ गया है । आजकल वे मुझसे नवीन शिक्षा-पद्धति का अध्ययन कर रहे हैं और मैं उनकी मदद से धर्म-ग्रंथों का अभ्यास करने लगा हूँ ।

समय सरपट भागा जा रहा था और वर्ष के अन्त तक मेरा पाठ्यक्रम तो असाधारण सफलता के साथ पूरा होना ही चाहिए था । इसी में तो मेरे प्रयोगों की विशेषता थी ।

मैंने सोचा, अब इन्हें इतिहास पढ़ाना शुरू करूँ ।

7

मैंने इतिहास की पाठ्यपुस्तकें देखीं, पर उनसे मुझे सन्तोष नहीं हुआ । एक में घटनाओं का गलत उल्लेख था, दूसरी में दृष्टिकोण पुराना था, तीसरी निरे व्यवसायिक दृष्टिकोण से लिखी गई थी, चौथी की शैली दोष-पूर्ण थी, और जो सबसे अधिक प्रशंसित पुस्तकें थीं, वे छोटे विद्यार्थियों के लिए बिल्कुल बेकार थीं ।

मैंने सोचा, इन पाठ्यपुस्तकों से तो काम नहीं चलेगा । फिर क्या करूँ? कहानियों द्वारा इन्हें इतिहास पढ़ाऊँ तो कैसा हो?

छात्रों को कहानी सुनने का शौक तो था ही । लेकिन अब तक मैंने उन्हें दूसरे ही प्रकार की कहानियाँ सुनाई थीं–आधी सच्ची और आधी काल्पनिक । गप्पों और परियों का संसार । इतिहास की कहानियों में ऐसी तो कोई बात आती नहीं थी । फिर भी मैंने एक कहानी शुरू की । रूखी-सूखी ऐतिहासिक घटनाओं को जोड़कर मैं कहानी कहने लगा । पर कुछ ही देर में लड़के घबरा उठे ।

बोले–'भाईजी, ये तो कहानी नहीं है ।'

'जी, ऐसी कहानी हम नहीं सुनेंगे ।'

'जैसी कल सुनाई थी, वैसी सुनाइए ।'

'चलिए न साहब, खेलने चलें?'

'जी, हम तो गीत गाएँगे?'

मैंने सोचा, इस बार तो मैं पूरा असफल रहा !

छात्रों ने मुझे चारों ओर से घेर लिया और धीरे से मेरा हाथ खींचकर वे मुझे खुले मैदान की तरफ ले गए ।

मैं रात घर आया और सोचने लगा, सम्पूर्ण ऐतिहासिक सत्य कहने से तो काम नहीं चलेगा । ऐतिहासिक घटनाओं को प्रत्यक्ष देखकर कौन लिखता है? शायद कहानी के रूप में ही इतिहास दिलचस्प बने तो बने । और कहानी में कहानीपन तो अवश्य होना चाहिए । इसीलिए मूल घटना के आसपास कल्पित घटनाओं को सजाकर इतिहास पढ़ाऊँ तो ठीक होगा ।

दूसरे दिन मैंने एक कहानी शुरू की–'एक बड़ा-सा जंगल था। भीलों की वहाँ बस्ती थी। अजब उनका डील-डौल था। तीरन्दाज वे ऐसे थे कि उड़ते पक्षी को मार गिराते। उस जंगल में एक झोंपड़ी थी।'

विद्यार्थी तत्काल कहानी के जादू में फँस गए और उसे पी जाने लगे। मैंने कहानी तो वीर वनराज की शुरू की थी, लेकिन घटनाओं के आसपास रंग चोखा चढ़ा दिया था!

उस दिन कहानी अधूरी रही।

दूसरे दिन छात्रों ने दूसरा काम होने ही नहीं दिया।

'बस, वनराज, वनराज सुनाइए!'–वे सब कह उठे।

मैंने वनराज की कहानी पूरी की। फिर ज़रा डरते-डरते उनसे पूछा–'जिनको यह कहानी दुबारा सुननी हो, वे खड़े हो जाएँ।'

एक-दो नहीं, बल्कि सबके-सब खड़े हो गए।

दूसरे दिन भी वही कहानी चली। यही क्रम तीसरे दिन, चौथे दिन और पाँचवें दिन भी चला। छात्रों में से कोई खेलने और गाने का नाम ही नहीं लेता था।

मैं भी देख रहा था कि उनका यह आग्रह कब तक टिकता है।

एक दिन किसी ने बड़े साहब के कान भर दिए–'जी, इस प्रयोग की सफलता-विफलता का निर्णय तो समय आने पर ही हो सकेगा। और तब हताश होकर शिक्षक से कहिएगा कि अरे, कुछ भी नहीं हुआ! लेकिन तब तक इन लड़कों का एक साल नाहक ही बिगड़ जाएगा।'

अवश्य ही मुझे इस पर जरा भी आश्चर्य नहीं था। जिन्होंने मेरी शिकायत की थी, उन्हें मैं जानता हूँ। मेरे छात्रों को प्रतिदिन कहानियाँ सुनने को मिलती थीं और वे मुझसे खुश रहते थे। दूसरे शिक्षकों के छात्र कक्षा में अपना असन्तोष प्रकट करते थे। वे कहानी सुनना चाहते, पढ़ने में ध्यान न रखते और ऊधम मचाते। यही कारण था कि दूसरे शिक्षक मुझसे चिढ़े रहते थे।

मैं कहता–'भाई, आप अपने रास्ते जाइए, मैं अपने प्रयोग करता हूँ। मेरे दिल में हिम्मत है। मुझे भी चिन्ता है कि लड़कों का नुकसान न हो और इसके लिए मैं मेहनत भी कर रहा हूँ। लेकिन मेरी अपनी रीति है और आपका अपना तरीका है। आप लोग चाहें तो मैं अपनी कक्षा को यहाँ से दूर हटा सकता हूँ।'

एक दिन हमारे साहब मेरी कक्षा देखने आए। वैसे तो वे भले आदमी थे, लेकिन कार्यक्रम में सारा समय कहानी का ही देखकर वे भी झुँझला उठे। मुझसे कहने

लगे–'भई, ये लोग इस तरह इतिहास कैसे सीखेंगे? जब तक कहानी कहोगे, तभी तक ठीक है । बाद में तो इस कान से सुनेंगे और उस कान से निकाल देंगे । इस तरह ये क्या पढ़ेंगे और क्या याद करेंगे ?'

मुझे भी उनकी यह बात कुछ जँची । मैंने सोचा–आखिर कहानी की मुख्य कथा तो छात्रों को याद रहनी ही चाहिए, नहीं तो इतिहास की परीक्षा में वे असफल रहेंगे । मेरे सिर परीक्षा का बन्धन तो था ही ।

दूसरे दिन मैंने एक प्रयोग किया । कक्षा में वनराज की कहानी तीसरी बार चल रही थी । मैं उसे थोड़े हेर-फेर के साथ कहने लगा । तत्काल लड़कों ने मुझे टोका और बोले–'जी ! आप यह क्या कह रहे हैं? पहले तो आपने एक हजार घोड़े बताए थे, अब पचास ही क्यों कह रहे हैं? और पहले तो झोंपड़ी नदी के किनारे थी !

मैंने मन में कहा, इन लोगों ने कहानी को समझा और हजम तो किया है । मेरी हिम्मत बढ़ी । मैंने सोचा, अब ये भूलेंगे तो नहीं ।

लेकिन नमक-मिर्च लगाई हुई मेरी कहानी इतिहास के परीक्षक के लिए किस काम की? मैंने सोचा, मुझे इन कहानियों को परीक्षक की दूरबीन में लाना चाहिए ।

अपनी कही हुई सब कहानियाँ मैंने लिख डालीं और विद्यार्थियों से उन्हें पढ़ जाने को कहा । कहानियों के छोटे करने योग्य भाग मैंने छोटे कर डाले । कहीं-कहीं स्थान और काल का भी सही निर्देश दे दिया । कहानी की कथन-शैली और लेखन-शैली में स्वाभाविक भेद होता ही है । इस भेद को मैंने समझा और उसी ढंग से कहानियाँ लिखीं । विद्यार्थियों को मेरी ये कहानियाँ पढ़ने में बड़ा मजा आया । वे बार - बार उन्हें पढ़ते देखे गए ।

अभी तक मुझे विश्वास नहीं होता था कि इस सम्बंध के प्रश्न पूछने पर विद्यार्थी मुझे सही उत्तर देंगे ।

एक दिन मैंने एक कहानी को सूत्र रूप में लिखा । एक-एक वाक्य में एक-एक घटना पिरो दी और कहानी की वह रूप-रेखा छात्रों को पढ़ने को दी ।

विद्यार्थी उसे पढ़ गए । पढ़ते-पढ़ते उन्हें अपनी सुनी हुई कहानी का स्मरण होने लगा । फिर एक दिन मैंने हिम्मत करके कहानी की घटनाएँ प्रश्नोत्तर द्वारा विद्यार्थियों से पूछनी शुरू कीं । मेरे अचम्भे का पार नहीं रहा । मेरे सवालों का जवाब वे तड़ातड़ देने लगे । मुझे विश्वास हो गया कि अब वे न केवल परीक्षा में पास होंगे, बल्कि परीक्षा के बाद भी उन्हें इतिहास याद रहेगा ।

कुछ दिन बाद मैंने प्रयोग की दृष्टि से अधिकारी महोदय को अपनी कक्षा में

बुलाया और उनसे छात्रों की इतिहास की परीक्षा लेने की प्रार्थना की।

परीक्षा के बाद उन्होंने प्रसन्न होकर कहा–'दूसरी कक्षाओं में भी इसी रीति से इतिहास पढ़ाया जाना चाहिए।'

मुझे उनके इन शब्दों से बड़ी तसल्ली हुई।

लेकिन अभी तो बहुत-कुछ बाकी था। चार महीने बीत चुके थे। फिर भी जो सफलता मुझे मिली थी, उससे मेरा उत्साह बराबर बढ़ रहा था।

तीसरा खंड

छ: महीनों के अन्त में

1

प्रति वर्ष की प्रथा के अनुसार इस वर्ष भी हमारी पाठशाला ने बहुत पहले से तैयारियाँ शुरू कर दी थीं। डायरेक्टर महोदय पधारने वाले थे। वह जब भी आते, पाठशाला में अवश्य पधारते। पाठशाला की तरफ से उस दिन एक जलसा किया जाता और छात्रगण उसमें श्लोक बोलते, कविताएँ गाते, कवायद करते और फिर साहब अच्छा काम करने वाले छात्रों को इनाम देते। दूसरे छात्रों को भी कुछ-न-कुछ दिया जाता था। उस दिन सारी पाठशाला में मिठाई भी बँटती थी।

सब कक्षाओं के विद्यार्थियों को इकट्ठा करके हमारे प्रधानाध्यापक ऐसे छात्रों को चुन रहे थे जो उनकी राय में अच्छे गाने वाले, अच्छे बोलने वाले और अच्छी तहजीब वाले थे। मेरे नाम भी इसी आशय की एक सूचना आई थी। लेकिन मेरी कक्षा के लड़के चुनाव में उपस्थित नहीं थे। प्रधानाध्यापक जी ने मुझसे इसका कारण पूछा तो मैंने जवाब में कहा–जी, मेरी कक्षा के लड़के इस काम में भाग नहीं ले सकेंगे।'

'क्यों?'

'यह सब तो सिर्फ डायरेक्टर महोदय को खुश करने और उनसे प्रशंसा पाने के लिए ही किया जा रहा है न?'

'हाँ, यह तो हमारी पुरानी प्रथा है और हमारे अधिकारी महोदय की भी यही इच्छा है।'

'जी हाँ, होगी। लेकिन मेरा मन इसे स्वीकार नहीं करता। मैं इसमें भाग नहीं लूँगा। मेरी कक्षा के लड़के भी नहीं आएँगे।'

'ऐसी स्थिति में मुझे साहब को इसकी सूचना देनी होगी कि आप मेरे साथ सहयोग नहीं करते और मेरे काम में बाधा डालते हैं!'

'जी, आप अवश्य ही उन्हें लिखिए। मैं उन्हें समझाने की चेष्टा करूँगा।'

'अच्छी बात है,ऐसा ही होगा।'

उसी जोश और घबराहट में प्रधानाध्यापक जी ने साहब के पास मेरी शिकायत लिख भेजी।

जलसे के लिए पाठशाला के दूसरे लड़कों का चुनाव हुआ। श्याम सुन्दर और भीमाशंकर संस्कृत में श्लोक बोलने के लिए,देवीसिंह और खेमचन्द कविता गाने के लिए, चम्पक और रमणीक, नेमीचन्द और सरजन लाल संवादों के लिए और बाकी के ऊँचे-पूरे, मोटे-ताजे और हट्टे-कट्टे दस-पन्द्रह कवायद के लिए चुने गए।

मैं मन-ही-मन काँप उठा। सोचा, शाबाश है प्रधानाध्यापक को और शाबाश है इस शाला व शिक्षा की वर्तमान रीति-नीति को! . . . . इनमें से हर एक छात्र ऐसा चुना गया है, जिसका अपने विषय से कोई सरोकर नहीं है। श्याम सुन्दर और भीमा शंकर के कंठ कुछ सुरीले हैं, ब्राह्मण के लड़के हैं, घर में संस्कृत का वातावरण है, बस इसीलिए वे पसंद किए गए हैं। लेकिन उन बेचारों को लाख रटने पर भी कुछ याद नहीं रहता। श्लोक रट-रट कर उनका दम निकल जाएगा। पर इस परिस्थिति में और हो ही क्या सकता है! मैं मन-ही-मन दुःखी होता हुआ घर गया। खाना खा ही रहा था कि इतने में बड़े साहब की चिट्ठी मिली 'कार्यालय में आकर मुझसे मिलिए थोड़ा काम है।' मैं जानता था कि क्या काम है। भगवान का नाम लेकर मैं साहब के कार्यालय में पहुँचा। मैने देखा कि उनके मुँह पर गुस्सा था। मारे गुस्से के चेहरा तमतमाया हुआ था, भौंहें चढ़ी हुई थीं। होंठ कुछ-कुछ हिल रहे थे। बड़े ही नाराज दिखाई पड़ते थे। मुझे देखकर कहा-'बैठो', और फिर बोले-'तुम्हारी कक्षा के लड़के जलसे के कार्यक्रम में क्यों न भाग लेंगे? उनमें कुछ लड़के तो सुन्दर और होशियार हैं।'

मैं मन में शान्त था, किन्तु दिमाग मेरा भी गरम था। मैंने जवाब में कहा-'तो क्या सुन्दर और होशियार लड़के दूसरों का मनोरंजन करने के लिए हैं? दूसरों के सामने नाच-कूदकर पाठशाला के लिए झूठी प्रशंसा प्राप्त करने को हैं?'

मेरा यह तेज जवाब सुनकर साहब कुछ शान्त हुए और बोले-'भई, हमारे लिए जलसा कोई नई बात नहीं है। कई वर्षों से यह रिवाज चला आ रहा है। जब डायरेक्टर आते हैं, तब ऐसा होता ही है।'

'क्षमा कीजिएगा, साहब,' मैंने भी ज़रा नरम होकर कहा-'रिवाज चाहे जो रहा हो, मेरी राय में वह ठीक नहीं हैं। हमें उसे तोड़ना चाहिए। यह तो सरासर ढोंग और दिखावा है,और डायरेक्टर साहब को भी धोखा देना है।'

'धोखा? कैसा धोखा?'

'जी, जो कुछ हम उन्हें दिखाएँगे, वह सब छात्रों को मार-मार कर और रटा-रटाकर ही तो तैयार किया जाएगा न ? हमारी पढ़ाई का वह सच्चा और स्वाभाविक परिणाम तो होगा नहीं । कई दिनों तक रिहर्सल चलेगी, जोरों की रटाई होगी, तब कहीं लड़के तोतों की तरह उसे पढ़ेंगे और सो भी पीछे से मदद मिलने पर! इसमें लड़कों का समय और शक्ति दोनों नष्ट होंगे । उनकी पढ़ाई पिछड़ेगी। जिन छात्रों को जिस काम के लिए आज चुना गया है, वे उसके योग्य नहीं हैं । उन्हें तो मार-मार कर ही हकीम बनाना पड़ेगा ।'

'लेकिन इसमें विश्वासघात क्या है?'

'जी, विश्वासघात यह है कि हम साहब पर यह असर डालना चाहते हैं कि हमारे लड़के होशियार हैं, हमारी पाठशाला सुन्दर है, हमारा काम नमूनेदार है । लेकिन असल में हम क्या हैं और क्या नहीं, सो तो हम अच्छी तरह जानते हैं ।'

साहब कुछ देर के लिए चुप रहे । बैठे विचार करने लगे । मैंने और कहा-'जी हम लोग तो ढोंग करते ही हैं, अपने लड़कों को भी हम उसी रास्ते ले जा रहे हैं । हमारे साहब भी हमसे खुश होने का अभिनय करेंगे और इनाम देते समय कहेंगे-'इन छात्रों ने जिस बुद्धिमानी, योग्यता और अभिरुचि का परिचय दिया है, उससे मैं बहुत खुश हुआ हूँ । सचमुच इनमें से कुछ छात्र तो इस बात का विश्वास दिलाते हैं कि आगे चलकर ये अच्छे विद्वान, उत्तम नागरिक और सच्चे मनुष्य बनेंगे । इनको उत्साहित करने के लिए कुछ पुरस्कार रखे गए हैं । मैं इस योजना का हृदय से स्वागत करता हूँ। आज इन छात्रों को ये पुरस्कार देते हुए मुझे बहुत आनन्द हो रहा है ।' क्या ये बातें उनके हृदय से निकलेंगी? क्या वे नहीं जानते कि यह सारा कार्यक्रम केवल उनकी खुशामद के लिए है? इन इनाम पानेवाले लड़कों से रटाया न जाए, विशेष परिश्रम के साथ इन्हें तैयार न किया जाय तो वैसे ये कैसे विद्वान्, नागरिक और मनुष्य हैं, सो तो आप, हम और इनके माँ-बाप सभी भली-भाँति जानते हैं ।'

साहब ने कहा-'भई, तुम पढ़े तो हो, लेकिन गुढ़े नहीं हो । व्यवहार की बातों में अभी तुम बड़े कच्चे हो । तुम्हारे लिए तो सभी बातें सिद्धान्त के अनुसार होनी चाहिए । लेकिन हमें तो सभी तरफ देखना पड़ता है ।'

मैंने कहा-'जी, सच है । फिर भी मैं इसमे भाग नहीं ले सकूँगा । मुझसे यह धाँधली सहन नहीं होगी ।'

'तो तुम क्या करोगे?'

'जी, मेरी कक्षा को आप इस प्रपंच से मुक्त रखिए ।'

'लेकिन इससे तो बड़ी कठिनाई पैदा होगी । भला दूसरे शिक्षक और अधिकारी मुझे क्या कहेंगे ? और मेरी कठिनाइयाँ कितनी बढ़ जाएँगी ? भई मुझे तो यह आशा थी कि तुम्हारी कक्षा के अच्छे लड़कों को देखकर साहब अधिक प्रसन्न होंगे । पर तुम तो . . . . .

मैंने कहा–'जी आप मुझे इससे तो मुक्त ही रखिए । मैं डायरेक्टर महोदय के मनोरंजन के लिए कुछ करूँगा । मैं ऐसा कुछ प्रबन्ध करूँगा कि जिससे लड़कों का समय भी बरबाद न हो, शक्ति का अपव्यय भी न हो, और उन्हें ढोंग और दिखावा भी न करना पड़े । आप उन्हें मेरी कक्षा में लाइएगा । मुझे विश्वास है कि मेरे कार्यक्रम से आप और वे दोनों प्रसन्न होंगे ।'

वे कुछ देर तक सोचते रहे, फिर मुस्कराये और मुझसे बोले–'अच्छा, तुम एक काम करो। मैं तुम्हारे प्रधानाध्यापक के नाम एक पत्र लिखे देता हूँ । वे तुम्हें इस काम से मुक्त रखेंगे । लेकिन देखो, तुम उन्हें चिढ़ाना नहीं । वे बेचारे पुराने ख्याल के आदमी हैं और तुम हो उमंग भरे नौजवान । मुझे तो दोनों को सँभालना है । और तुम तो जानते ही हो, यह काम कितना कठिन है ।'

मैंने मन-ही-मन साहब की प्रशंसा करते हुए कहा–'अच्छा साहब, तो अब आज्ञा हो?'

* * * * *

पाठशाला में आज पूर्ण उत्साह के साथ तैयारियाँ चल रही थीं । साहब पधारेंगे ! डायरेक्टर साहब पधारेंगे !

बड़े और छोटे अफसर, गाँव के नागरिक और जनता, विद्यार्थी और शिक्षक सभी आ चुके थे । मेरे साथी शिक्षकों की अजीब हालत थी । दिल धड़क रहे थे, चेहरों पर उदासी थी, फिर भी तन कर खड़े रहने की कोशिश कर रहे थे, और अपने काम में लगे हुए थे । प्रधानाध्यापक जी ने हमारी पाठशाला के ऊधमी लड़कों को एक ओर बुलाया और उन्हें धमकाते हुए कहा–'देखो, हरामखोरो ! जरा भी ऊधम किया या गड़बड़ मचाई तो कल बुरी तरह धुन दूँगा, समझे !'

तालियों की गड़गड़ाहट और संगीत के साथ डायरेक्टर साहब पधारे ! प्रधानाध्यापक ने पाठशाला का वार्षिक विवरण बड़ी छटा से और बुलन्द आवाज के साथ इस तरह पढ़कर सुनाया, मानो लोगों को यह यह विश्वास दिला रहे हों कि वे काँप नहीं रहे हैं ! इसीलिए वे बार-बार तन कर पढ़ते थे । पर विवरण समाप्त होने से पहले ही अन्दर से उनका कुर्ता प्रायः भीग चुका था और उनकी आवाज में खरखरा-

पन आ चुका था । विवरण वाचन के बाद 'रेसीटेशन्स' अर्थात् कविता-पाठ और संवाद शुरू हुए । लड़के ग्रामोफोन - रिकार्ड की तरह कविता पढ़ने लगे । उनके मुँह पर किसी भी प्रकार के कोई हाव-भाव नहीं थे । वे जोर से और हाथ-पैर हिला कर बोलते थे । दु:ख केवल इतना ही था कि जो कविताएँ पसंद की गई थीं, वे सुन्दर, सरस और अच्छे कवियों की होते हुए भी इतनी कठिन थीं कि छात्र उन्हें समझ नहीं सकते थे । बेचारे बिना समझे पढ़ते थे, पढ़कर अभिनय करते थे और अपनी 'रसिकता' का परिचय देते थे । यही हाल संवादों का था । संवाद तो उपदेश पूर्ण ही होते हैं । जो उपदेश बड़ों के मुँह से शोभा देते, वे ही बालकों के मुँह से लज्जा का कारण बन रहे थे । उपदेशों का यह प्रहसन बहुत ही बेहूदा था । अकेला मैं ही नहीं , स्वयं डायरेक्टर साहब भी इसे अनुभव कर रहे थे । इसी कारण वे मूँछों में हँस भी रहे थे । मेरे साथी शिक्षक तटस्थ होकर इसे देखने का प्रयत्न करते तो वे भी ऐसा ही प्रतीत करते ।

सम्मेलन समाप्त हुआ । साहब ने आभार प्रकट किया । अपना हर्ष प्रकट किया । इनाम बाँटे गए । प्रधानाध्यापक, बड़े अधिकारी और दूसरे सब आज के इस कार्य से सन्तुष्ट दिखते थे । साहब ने शिष्टाचार के रूप में कहा - 'आपकी पाठशाला का काम देखकर मुझे संतोष हुआ है ।'

इतने मे हमारे साहब ने बड़े साहब से बिनती की - 'चौथी कक्षा के ये शिक्षक आपको कुछ काम दिखाना चाहते हैं । उस परदे की आड़ मे इन्होंने कुछ प्रबन्ध किया है ।'

साहब ने बड़ी उदारता का परिचय दिया वे तत्काल सहमत हो गए। मैं परदे के पीछे चला गया । तीसरी घंटी के साथ मैंने परदा खोला । बीच मे मैं और आसपास मेरे विद्यार्थी थे । हमारी कक्षा मे प्रतिदिन गाया जाने वाला एक गीत हम प्रार्थना के रूप मे गा रहे थे । कमरे मे शान्ति का साम्राज्य था । सब इस विचार मे पड़े थे कि एकाएक यह नाटक कैसा?

प्रार्थना के बाद छात्रों ने 'कचहरी में जाऊँगा' नामक एक खेल शुरू किया । एक लड़का चूहा बना । कमर में रस्सी बाँधकर उसने अपनी पूँछ बनाई थी। सिर पर काला कपड़ा ओढ़े था और चार पैरों से चलकर वह 'चूँ-चूँ कर रहा था । एक लड़का दर्जी, दूसरा बेल-बूटेवाला, तीसरा मोतीवाला, चौथा मृदंगवाला, पाँचवाँ राजा और छठा राजा का सिपाही बना था । मैं छठा यानी राजा का सिपाही था ।

सब पात्र हमेशा की सादी पोशाक मे थे । राजा टेबल पर रौब से बैठा था । सिर

पर तिरछी टोपी पहने था। सिपाही ने अर्थात मैंने अपनी मूँछों पर ताव देकर मूँछें खड़ी कर ली थीं। साफा कुछ टेढ़ा बांध लिया था और हाथ में एक छुरी रख ली थी। मृदंगवाले के पास मृदंग था। दूसरे सब खाली हाथ थे।

हमारा रंगमंच बिल्कुल सादा था। परदे के पीछे एक तख्ते पर सारा कार्यक्रम लिख रखा था। कमरा साफ झाड़ा और बुहारा हुआ था। एक छोटी दरी एक छात्र के घर से मँगाकर फर्श पर बिछाई थी। पाठशाला में ऐसी कोई चीज नहीं थी जो रंगमंच की शोभा के लिए रखी जा सके। फिर भी पीपल और नीम की डालियाँ काटकर पत्तियों से दीवारें सजा दी गई थीं। फर्श पर लड़कों ने रंग-बिरंगी खड़िया से अपनी पसंद के चित्र बनाए थे। चूहे का नाटक शुरू हुआ और फिर खत्म हुआ। बड़े और छोटे सब शान्त भाव से देखते रहे। छोटे यानी विद्यार्थी तो बड़ी ही दिलचस्पी के साथ देख रहे थे – बड़े भी आश्चर्य में डूबकर देख रहे थे।

'यह क्या ? यह नवीनता कैसी ? यह नाटक कैसा?'

मुझे कहना चाहिए कि लड़कों ने नाटक सुन्दर ढंग से खेला था। वे भूलें नहीं कर रहे थे। 'प्रॉम्पटर' कोई रखा ही नहीं गया था। जहाँ ज़रा भी गलती का शक होता था, वहाँ मैं ही प्रकट रूप से उसको सुधार देता था।

दूसरा नाटक 'बुढ़िया' और तीसरा 'खरगोश' खेला गया।

ले-देकर परदा एक ही था। सीन - सीनरी नाम लेने को भी न थी। लड़के कभी सिर पर कपड़ा ओढ़ लेते थे, कभी हाथ में छड़ी ले लेते थे। बाकी सारा आधार तो लड़को के अभिनय पर ही था।

अन्तिम प्रार्थना के बाद नाटक का कार्य समाप्त हुआ और मैं रंगमंच पर आया। मैंने नाटक के मैनेजर की हैसियत से अपने दर्शकों से कहा – 'सज्जनों ! हमारे इन नाट्य-प्रयोगों को शांतिपूर्वक देखने के लिए हम हृदय से आपका उपकार मानते हैं। इस सम्बंध में मैं आपसे एक निवेदन करना चाहता हूँ। आशा है, आप सुनने की कृपा करेंगे।

'ये चौथी कक्षा के विद्यार्थी हैं। जब मैंने इनसे पूछा कि इस अवसर पर हम भी अपने नाटक क्यों न खेलें तो ये सहर्ष तैयार हो गए। इन्होंने बड़े उत्साह और तत्परता का परिचय दिया। तुरन्त ही नाटक पसंद किए गए। जो कहानियाँ इन्होंने पढ़ीं और सुनी थीं, आपके सामने अभी उन्हीं का अभिनय ये कर चुके हैं। मैंने इनसे कहा था कि जिस तरह हर हफ्ते हम बिना किसी तैयारी के नाटक खेलते हैं, उसी तरह इस बार भी खेलेंगे। हमारी कक्षा में कोई चीज रटाई नहीं जाती। छात्रों को

कहानी का कथानक भली-भाँति याद रह जाता है। हर पात्र जानता है कि कहानी में उसका कथन क्या है। फिर तो रंगमंच पर कहानी का सम्बंध बनाए रखकर प्रसंग के अनुसार ये स्वयं वार्तालाप कर लेते हैं। किसी छात्र को कभी अपना पार्ट याद करने की आवश्यकता नहीं रहती। सीन-सीनरी और वेश-भूषा तो नाटक के गौण अंग हैं, महत्त्वपूर्ण अंग तो अभिनय और भाव-प्रदर्शन हैं। हम इसी पर विशेष ध्यान देते हैं। वेश-भूषा की अधिकता नहीं रखते। इससे अभिनय को विकास का पूरा अवसर मिलता है। आपने अभी यहाँ जो कुछ देखा है, उससे आपको भी यही प्रतीत हुआ होगा। मेरे छात्रों को इस कार्य में बड़ा मजा आता है। वे इसे हृदय से चाहते हैं। उन्हें कभी शाबाशी देने की जरूरत नहीं पड़ती। अपने काम से उन्हें अपने-आप ही सम्पूर्ण संतोष हो जाता है।

'सज्जनों ! जिस प्रेम और शान्ति से इन छात्रों के ये नाटक आपने देखे हैं, उसके लिए मैं पुन: आपको हृदय से धन्यवाद देता हूँ।'

डायरेक्टर साहब के मुँह पर प्रसन्नता खेल रही थी। मैं बड़ी देर से इस बात को देख रहा था। वे तुरन्त ही उठे और अंग्रेजी में बोले –

'श्री लक्ष्मीशंकर और उनके विद्यार्थियों ने अभी-अभी जिस रूप में हमारा वास्तविक मनोरंजन किया है, उसके लिए मैं उनका अभिनन्दन करता हूं। उनका काम सचमुच ही सुन्दर था। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता था, मानो मैं अपनी मातृभूमि -- इंगलैंड में हूँ। वह दृश्य निस्सन्देह अद्‌भुत था, जब ये नन्हें-नन्हें बालक स्वयंस्फूर्ति से चूहे, दर्जी और राजा का अभिनय कर रहे थे! 'रेसीटेशन ' और रटे हुए संवादों का जमाना तो अब लद चुका है। ये चीजें वास्तव में क्रूर, असभ्य और आत्मा का नाश करने करने वाली हैं।'

इतना कहकर वे कुछ ठहरे और फिर कहने लगे–

'मैं फिर कहता हूँ कि आज का यह काम देखकर मुझे बहुत आनन्द हुआ है। इसके लिए मैं इनको इनाम नहीं दूँगा। नाटक खेलते समय इन्हें जो वास्तविक आनन्द मिल रहा था, इनके लिए वही सच्चा इनाम है। सचमुच, आज मैं बहुत खुश हूँ। बहुत ही खुश।'

सम्मेलन समाप्त हुआ।

लोग अपने- अपने घर गए।

साहब की खुशी का ठिकाना न रहा। उन्होंने बड़े साहब के साथ मेरा परिचय कराया और मेरे प्रयोग की बात भी कही। साहब ने मेरे साथ हाथ मिलाते हुए कहा–

'शाबाश ! आप अपने काम में सफल हुए हैं । ऐसे प्रयोग बराबर करते रहिए । असल शिक्षा तो इसी में है और तो सब निरुपयोगी है, निरा ढोंग है ।'

डायरेक्टर के इन शब्दों ने मेरे साहब के मन में कैसी गुदगुदी और कितना गर्व पैदा किया होगा, आप ही सोच लें ! मैं तो प्रसन्न था ही ।

मैं घर गया । सचमुच आज मैं आनन्दमग्न था । साहब ने मुझसे हाथ मिलाया और मुझे शाबाशी दी, यह एक कारण था । पर सच्चा कारण तो यह था कि आज मेरे प्रयोगों की कद्र की गई थी । मैंने सोचा, साहब तो एक पोलिटिकल अफसर हैं । उन्हें इस नई पाठशाला और इसके सम्बंध की समस्त बातों का क्या पता होगा? लेकिन बाद में मुझे मालूम हुआ कि उन्होंने अपने लड़के को यूरोप की किसी नई-से-नई पाठशाला में पढ़ने के लिए भरती कराया है और इसीलिए वे नई शिक्षा से प्रेम रखते हैं ।

रात मेरे दो-चार साथी शिक्षक मुझसे मिलने आए । वे मुझसे पूछ ही रहे थे कि डायरेक्टर साहब ने मुझसे क्या कहा और क्या नहीं कि इतने में हमारे अफसर की चिट्ठी आ गई और मैं उनके घर चला गया ।

साहब आज प्रसन्न थे । डायरेक्टर साहब ने पाठशाला के काम से सन्तोष जो प्रकट किया था । जाते ही साहब ने मुझे कुर्सी दी और स्वयं आरामकुर्सी पर लेटते-लेटते बोले–'भाई,पहले मुझे यह तो बताओ की लड़कों ने नाटक रटे थे या नहीं?'

मैने कहा–'जी, आपके मन पर उनके काम की कैसी छाप पड़ी?'

साहब ने कहा–'मैं तो बहुत खुश हुआ हूँ, लेकिन लड़कों ने यह सब याद कैसे किया होगा? उन्होंने बड़े अच्छे ढ़ंग से बातें की थीं ।'

मैंने कहा–'जी, आप सच कहते हैं । मैंने उन्हें कहानियाँ सुनाई थीं । कहानियां उन्हें पसंद आई थीं । कहानी के पात्रों के मनोभावों के साथ उन्होंने एकात्मकता का अनुभव किया था । जो बातें उन्होंने वास्तव में अपना ली थीं, उन्हीं को वे अपने ढंग से प्रकट कर रहे थे ।'

साहब ने पूछा–'लेकिन उन्हें अभिनय किसने सिखाया?'

मैंने कहा–'सिखाता कौन? हम हर हफ्ते नाटक खेलते हैं । मैं स्वयं उसमें भाग लेता हूँ और लड़के तो सम्मिलित होते ही हैं । मैं अपने पात्र के हावभाव, जैसे मुझे आते हैं, उनके सामने प्रकट करता हूँ । लड़के भी अपने पात्रों के हावभाव प्रकट करते हैं ।'

साहब ने कहा–'लेकिन यह होता कैसे है? मैं तो समझ नहीं पाया?'

मैंने कहा–'साहब, छात्रो की आँखें खुली रहती हैं न? वे दर्जी, बढ़ई, कुम्हार, चूहों आदि को देखते हैं, उनकी बातें सुनते हैं। कहानी में उनका जो वर्णन आता है, उन्हें भी वे सुनते हैं। ईश्वर ने उन्हें कल्पना-शक्ति भी दी है, इसलिए वे अनुभव और कल्पना का मेल मिलाकर अभिनय करते हैं। उन्हें जैसा सूझता है, वैसा करते हैं। वे खुद ही अपने परीक्षक होते हैं। वे देख लेते हैं कि अनुभव और कल्पना को रंगमंच पर किस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है।'

साहब ने कहा–'अजी, ये तो बहुत गम्भीर और कठिन बातें हैं।'

मैंने कहा–'जी हाँ, किन्तु लड़कों को इन सब बातों का ऐसा ख्याल थोड़े ही होता है? यह तो मैं हूँ कि उनके कार्यों का पृथक्करण करके आपको सुना रहा हूँ।'

साहब ने कहा–'ठीक .... । भई, सचमुच आज तो तुमने कमाल ही कर दिया ! डायरेक्टर साहब आज बहुत खुश थे।'

मैंने कहा – 'और वे खुश न होते तो भी नाटक का हमारा काम तो जारी ही रहता।'

साहब बोले – 'किन्तु तुमने अपने इन प्रयोगों की बात मुझसे तो कभी की ही नहीं। शायद प्रधानाध्यापक और दूसरे शिक्षक भी नहीं जानते थे।'

मैंने कहा–'जी, सच है। मैंने कभी उनसे इसका जिक्र नहीं किया। उनके विचार म तो यह सब फिजूल है। वे तो छःमाही की परीक्षा के लिए कोर्स तैयार कराने मे लगे हैं।'

साहब ने पूछा–'लेकिन उन्हें पता तक न चला, यह कैसी बात है?'

मैंने कहा–'जी, हम हर हफ्ते बाहर घूमने जाते हैं और वहीं खेल के रूप में यह सब किया करते हैं। मैं अपने साथ एक चादर ले जाता हूँ। उसी का परदा बना लिया जाता है। दो लड़के उसे पकड़ कर खड़े हो जाते हैं। इस तरफ देखने वाले और उस तरफ खेलने वाले।'

साहब ने पूछा–'क्या सच?'

मैंने कहा–'जी,ठीक ही कहता हूँ।'

साहब–'अच्छा, तो अब मैं अपनी पाठशाला की सब कक्षाओं में नाटक का कार्यक्रम भी रखूँगा। डायरेक्टर साहब को तो यह बहुत ही पसंद है। सचमुच नाटक बड़ी सुन्दरता के साथ खेले गए थे। 'रेसीटेशन' आदि का झँझट न रखें तो हानि ही क्या है?'

मैंने कहा–'जी, मैं तो इसी विचार का हूँ। वैसे, जैसा आप चाहें, कर सकते हैं।'

साहब ने कहा–'बस, मैं यही करूँगा। बड़े साहब भी तो यही कह रहे थे कि बी डैम्ड क्रैमिंग, यस, आई आलसो रिमेंबर माई डेज़ आफ क्रैमिंग। पर चूँकि मैं बचपन से ही थोड़ा बुद्धिमान रहा हूँ, इसलिए मुझे अधिक कठिनाई नहीं हुई। दूसरे लड़के तो बेचारे रट-रट कर मरे जाते थे। बी डैम्ड क्रैमिंग !'

मैं अपने मन में मुस्करा रहा था। मैंने सोचा, आज बड़े साहब के पधारने से एक बड़ा काम बन गया। मेरे प्रयोगों में आज का यह अनुभव भी महत्त्व का है। मैं घर गया और सो रहा।

2

छ:माही परीक्षा पास आ लगी थी। दूसरी कक्षाओं में पिछला दोहराया जाने लगा था। इतिहास, भूगोल, गणित और भाषा की रटाई फिर शुरू हो गई थी। एक बार तो उनका छ:माही अभ्यास पूरा भी हो चुका था। मेरी अपनी गाड़ी अभी कोसों दूर थी और यदि परीक्षा की दृष्टि से सोचूँ, तब तो मैं बहुत ही पिछड़ा हुआ था। लेकिन फिर भी मुझे अपनी कक्षा की परीक्षा तो दिलानी ही थी।

दोहराने में समय बिताने की मुझे जरूरत नहीं थी। मेरा उतना समय बचने ही वाला था। मेरी पढ़ाई अन्त तक चलने वाली थी, क्योंकि मेरी कक्षा में जो कुछ होता था, उसकी दोहराई विद्यार्थी स्वयं ही कर लिया करते थे। मैंने ऐसी योजनाएँ भी बना रखी थीं कि जिनसे विद्यार्थी अपना पढ़ा हुआ सब कुछ स्वयं ही दोहरा लिया करें। उदाहणार्थ, अंत्याक्षरी आदि के खेलों में कविताओं की दोहराई तो वे बार-बार कर ही लेते थे।

लेकिन अभी तक मैंने भूगोल, पदार्थ पाठ और व्याकरण को छुआ तक नहीं था। मैंने सोचा, अब मैं व्याकरण शुरू करूँ। व्याकरण एक कठिन विषय माना जाता है और इस विषय से विद्यार्थियों को सहज ही कोई दिलचस्पी भी नहीं हो सकती। चौथी कक्षा के विद्यार्थियों को भाषा की चीरफाड़ करने में क्यों आनन्द आने लगा? उसमें ऐसा कौन सा रसिक तत्त्व है, ऐसी कौन सी वस्तु है जो उनके लिए आनन्ददायक हो या जीवन के लिए उपयोगी कोई ज्ञान प्राप्त कराती हो? उसमें ऐसा कौन सा स्थल है जहाँ पहुंच कर विद्यार्थी यह कह सके कि वाह, इसमें तो बड़ा ही आनन्द है। यह तो बड़ी ही उपयोगी चीज है। इसी कारण मैंने अपना यह विचार बना रखा है कि व्याकरण की शिक्षा बड़ी उम्र के उन्हीं विद्यार्थियों के लिए उपयुक्त हो सकती है,

जो भाषा की शिक्षा में दिलचस्पी लेने लगे हों। प्राथमिक पाठशाला से तो यह विषय निकल जाना चाहिए। जो विषय सीखने में कठिन हो और जिसे सीखते-सीखते विद्यार्थी ऊब जाएँ, वह सिखाया ही क्यों जाए ? ज्ञान के दूसरे विषयों का कौन अभाव है जो ऐसे रूखे और अनुपयुक्त विषय छात्रों को सिखाए जाएँ ?

पर मेरे लिए तो यह प्रयोग अनिवार्य ही था। वैसे भी, कम-से-कम अपनी शर्त के अनुसार परीक्षा के समय तक तो मुझे यह विषय भी छात्रों को भली-भाँति सिखा देना जरूरी था। तात्विक विचारों के कारण व्यवहार में इसे अपने प्रयोगों से मुक्त रखना मेरे लिए उचित न होता। मुझे तो यह सिद्ध करना था कि आजकल की चौथी कक्षा में भी यह विषय किस प्रकार अच्छी तरह सिखाया जा सकता है।

मैंने व्याकरण का 'कोर्स' पढ़ा और सोचा कि मैं इस क्रम से तो नहीं चलूंगा। संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया आदि की परिभाषाएँ रटी तो बड़ी जल्दी जा सकेंगी, परन्तु समझ में उतनी जल्दी नहीं आ पायेंगी। जब बचपन में मुझे यह विषय समझाया जाता था तो मैं भी इसे समझ नहीं पाता था, केवल याद भर रख लेता था। पर मेरे शिक्षकों को इसी से भ्रम हो जाता था कि मैं विषय को भली-भाँति समझ चुका हूँ। मैंने प्रचलित प्रथा को तो नमस्कार करना ही उचित समझा। अब सवाल यह उठता था कि व्याकरण पढ़ाया किस रीति से जाए? मैंने इस पर विचार किया, एक योजना भी बना डाली और उसके अनुसार काम करने लगा। सचमुच विद्यार्थियों को बड़ा मजा आया। उनके लिए वह एक सुन्दर खेल हो गया, और दो महीनों में तो वे संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया और अव्यय पहचानना और उन्हें वाक्यों में से चुनकर दिखाना सीख गए। एकवचन और बहुवचन, स्त्रीलिंग और पुल्लिंग का भेद भी वे समझ गए। मैं कर्ता और कर्म को पहचानने की योजना पर विचार ही कर रहा था कि इस बीच एक दिन, जब हमारी कक्षा में व्याकरण के खेल चल रहे थे, एकाएक श्रीमान डिप्टी डायरेक्टर महोदय आ पहुंचे। उन्होंने मेरा कार्य देखा और दंग रह गए। कहने लगे – 'भई, लड़कों को ताश खेलना क्यों सिखलाते हो ? छःमाही परीक्षा नजदीक आ रही है, ज़रा तेजी से काम लो। देखो, कहीं हमें नीचा न देखना पड़े। याद रखो, तुम्हें अपना यह प्रयोग सफल करके दिखाना है।

मैंने हँसकर कहा – जी, मुझे इसकी पूरी चिन्ता है। ये तो व्याकरण के खेल चल रहे हैं। आप जरा व्याकरण में इन छात्रों की परीक्षा तो लीजिए।'

साहब ने छात्रों से दो-चार सवाल पूछे। फिर मुझसे कहने लगे–'ओहो। यह तो बड़ा ही सुन्दर काम हुआ है। तुम्हें यह सारी योजना मुझे समझानी होगी। यदि तुम

अपने छात्रों को इतनी दिलचस्पी के साथ व्याकरण पढ़ा सकते हो तो सभी कक्षाओं में तुम्हारी रीति से व्याकरण क्यों न पढ़ाया जाए? कल छुट्टी है । तुम मेरे घर आओ और मुझे समझाओ कि किन-किन साधनों से तुमने क्या-क्या किया है?'

* * * * *

दूसरे दिन मैं व्याकरण की सारी सामग्री लेकर साहब के घर गया और मैंने उन्हें अपनी योजना आरम्भ से इस प्रकार समझाई–

'साहब ! देखिए, यह मेरा पहला साधन है । इस गत्ते पर एक ओर पुल्लिंग और दूसरी ओर स्त्रीलिंग के शब्द लिखे हैं । ऊपर 'स्त्रीलिंग' और 'पुल्लिंग' भी लिखा है । आप देखेंगे कि इन गत्तों पर नियमित स्त्रीलिंग के और उन पर अनियमित स्त्रीलिंग के शब्द हैं । मेरा पहला काम यह है कि मैं ये गत्ते छात्रों को पढ़ने के लिए देता हूँ । वे इनको पढ़ते हैं – जितने गत्ते उन्हें दिए जाते हैं, उतने सब वे पढ़ डालते हैं । इस प्रकार उन्हें सहज ही लिंगवाचक शब्दों का परिचय हो जाता है । गत्तों पर मैंने लिखा है–'स्त्रीलिंग' और 'पुल्लिंग' । इससे शब्दों के लिंग का विचार मन में उत्पन्न होता है । पर आरम्भ में तो इससे वे केवल लिंगवाचक शब्दों का परिचय ही प्राप्त करते हैं ।

इतना कर लेने के बाद एक दिन मैंने उनसे पूछा – 'बोलो भाई, बैल की स्त्री कौन ?'

उन्होंने कहा – 'गाय' । 'सिंह की' ? 'सिंहनी' । 'लड़के की' ? 'लड़की' । 'बूढे की' ? 'बुढ़िया' । 'कुत्ते की' ? 'कुतिया' । 'मोर की' ? 'मोरनी' ।

मेरी यह योजना खूब सफल हुई । प्रथम परिचय से उनमें विचार उत्पन्न हुए थे । अब शब्द-परिचय से उनमें ज्ञान भी जागा ।

मैंने कहा – 'आओ हम एक खेल खेलें । मैं पुल्लिंग लिखूँ, तुम उनके स्त्रीलिंग लिखो ।' मैंने पुल्लिंग-वाचक शब्द लिखने शुरू किये, और वे मेरे साथ खुशी-खुशी स्त्रीलिंग शब्द लिखने लगे । जाँच कर देखा तो बहुत कम भूलें निकलीं । कुछ ही छात्रों की भूलें थीं ।

मैंने कहा – 'देखो, तुम्हें एक दूसरा खेल सिखाता हूँ । ये दो पेटियाँ हैं । एक में पुल्लिंग शब्द हैं और दूसरी में स्त्रीलिंग । पुल्लिंग का स्त्रीलिंग ढूंढो और स्त्रीलिंग शब्द के पुल्लिंग का पता लगाओ ।'

लड़कों ने यह खेल कई घंटों तक खेला ।

साहब – 'लेकिन पेटी तो एक ही थी । सब एक साथ किस तरह खेले होंगे ?'

मैंने कहा – 'जी, इसके लिए तो मुझे एक तरकीब सोचनी पड़ी थी । कक्षा में

दोनों तरफ मैंने दस-दस वर्तुल बना दिए थे। एक तरफ के दस वर्तुलों में पुल्लिंग और दूसरी तरफ के दस में स्त्रीलिंग शब्द रखे थे। एक-एक वर्तुल के पास एक-एक विद्यार्थी बैठा था। अपने वर्तुल का शब्द लेकर वह उसकी स्त्री या पुरुष को ढूँढ़ने जाता और जो जहाँ से मिलता, पता लगाकर नर और नारी को वहाँ एक साथ रखता। इस प्रकार हर एक वर्तुल के पास स्त्री-पुरुष के जोड़े इकट्ठा हो जाते। सब शब्दों के समाप्त होने पर खेल फिर से शुरू कर दिया जाता। जब खेलने वाले सिर्फ दो व्यक्ति होते हैं तो वे एक-एक पेटी लेकर स्त्री के पुरुष और पुरुष की स्त्री का पता लगाते हैं।'

साहब बोले – 'वाह, यह तो बड़ी मजेदार तरकीब है। लेकिन नपुंसक लिंग के लिए तुमने क्या किया था?'

'जी, स्त्रीलिंग और पुल्लिंग का अच्छा परिचय हो जाने के बाद एक दिन मैंने तख्ते पर 'नपुंसक लिंग शब्द' शीर्षक देकर थोड़े शब्द लिखे – होल्डर, टेबल, तख्ता, डस्टर, दवात आदि। लड़के उन्हें पढ़ गए और सोचने लगे कि इनका लिंग क्या होगा? जितना वे जानते थे, उसके आधार पर वे इनके लिंग का निर्णय नहीं कर सकते थे। मैंने कहा–'ये शब्द नपुंसक लिंग के हैं।' और तख्ते पर 'नपुंसक लिंग' लिखा।'

एक विद्यार्थी – 'लेकिन नपुंसक का मतलब क्या है?'

मैं – 'जो न पुरुष है, न स्त्री है, वह नपुंसक है।'

लड़के कुछ समझते दिखाई पड़े। मैंने फौरन कहा – 'पहले तीन खाने बना लो – एक स्त्री का, एक पुरुष का और एक नपुंसक का। फिर लिखो, शब्द लिखो।'

मैंने उन्हें साठ शब्द लिखाए और स्वयं मुझे भी यह देखकर आश्चर्य हुआ कि अधिकांश छात्रों ने बिल्कुल सही लिखा था। मैंने सोचा कि परिभाषा वगैरा के पचड़े में न पड़कर पहले इस तरह का परिचय कराना ही अच्छा है। खेलों द्वारा पहले यह परिचय कराया जा सकता है और धीरे-धीरे उन्हें इनकी शास्त्रीय परिभाषा भी बताई जा सकती है।

साहब – 'लेकिन अगर 'कैसा', 'कैसी' आदि प्रश्न पूछकर समझाते तो कैसा रहता?'

मैं–'जी, वह तो रूल आफ थम्ब ही होता–यानी निरी रटाई। छात्रों को बिना समझे याद करना पड़ता। अब उनके मनोविनोद की दृष्टि से उन्हें 'कैसा', 'कैसी' की रीति भी बताई जा सकती है।'

साहब – 'अच्छा, तो अब आगे की बात कहो।'

मैं – 'इसके बाद मैंने 'वचन' लिए – एकवचन और बहुवचन, और ये भी उसी रीति से सिखाए।'

साहब – 'क्या कहते हो? इसके लिए भी खेल ही खिलाते थे ?'

मैं – 'जी हाँ। एकवचन वाला बहुवचन को ढूँढ़कर लाता और दोनों का जोड़ा बनाता।'

साहब – 'यह भी ठीक रहा। तो अब यह बताओ कि तुमने संज्ञा और क्रियापद आदि किस तरह सिखाए?'

मैंने कहा – 'जी , देखिए। पहले तो मैंने क्रियापद लिए। विद्यार्थी पढ़ना तो जानते ही हैं। मैंने उन्हें समझाया कि मैं जैसा तख्ते पर लिखूँ, वे वैसी ही क्रिया करें। मैंने उनसे कहा – मैं क्रिया लिखूँगा, तुम क्रिया करना। जिसकी ओर मैं इशारा करूँ, वही क्रिया करे।'

मैंने तख्ते पर लिखा – उठो, बैठो, दौड़ो, सोओ, खेलो, नाचो, पढ़ो, बोलो, हिलो, डुलो, गिरो, कूदो, डरो, उछलो, हँसो, गाओ, आदि-आदि।

इन सारी क्रियाओं को करने में लड़को को बड़ा आनन्द आया। वे कहने लगे – 'और लिखिए।' मैं ऐसे शब्द सोचता और लिखता गया और वे वैसी क्रिया करते गए। दूसरे दिन मैंने एक कार्ड पर लिखा–कुछ क्रियापद–उठो, बैठो, दौड़ो, आदि। सबने पढ़ा – 'कुछ क्रियापद'। तीसरे दिन मैं एक डिबिया लाया। इस पर मैंने लिखा – 'क्रियापदों की पेटी।' लड़कों ने पेटी खोली और उसमें से क्रियापद उठाए – नाचो, कूदो, भागो, मारो, गिरो आदि। वे पढ़ते गए और वैसी क्रिया करते गए। फिर मैंने कहा – 'देखो, अब तुम कुछ क्रियापद लिख लाओ।' और वे कुछ क्रियापद लिख लाए।

मैंने एक दूसरा खेल निकाला। उनसे कहा – 'देखो, मैं तुम में से किसी को कुछ करने को कहूँगा। वह क्या करता है, सो तुम मुझको तख्ते पर लिखवाना।' मैंने जगजीवन से कहा – 'दौड़ो।' जगजीवन दौड़ा। मैंने पूछा – जगजीवन क्या करता है? एक ने कहा – दौड़ता है। दूसरे से पूछा – जगजीवन कौन सी क्रिया करता है? वह बोला – जगजीवन दौड़ता है। फिर मैंने कुछ लड़कों को दौड़ो, कूदो, लिखो, पढ़ो आदि हुक्म दिए और दूसरों से कहा कि वे जो करते हैं, सो तख्ते पर लिख डालो। मैंने देखा कि उन्होंने सही-सही लिखा था। अलबत्ता, कुछ ऐसे थे जो समझ नहीं पाए थे, इसलिए वे लिख भी नहीं सके। किसी ने कहीं-कहीं कुछ भूलें भी की थीं।

मैंने इसी ढंग पर आगे कहा – 'अब तुम में से जो जैसी क्रिया करे, तुम उसके लिए वैसा ही लिखो ।'

मैंने जगजीवन से कहा – 'दौड़ो ।' वह दौड़ा और लड़कों ने 'दौड़ा' लिखा । इस तरह खेल चलते रहे । मैंने लड़कों को आपस में खेल खेलने और लिखने की स्वतंत्रता दे दी थी । बड़े उत्साह से वे सारा समय खेलते रहे ।

इसके बाद एक दिन मैंने उन्हें बिठाया और पूछा – 'जब राम दौड़ता है, तब वह दौड़ने की क्रिया करता है न?' वे बोले –'जी हाँ ।' 'जब श्यामसुन्दर लिखता है, तब वह कौन सी क्रिया करता है?' 'लिखने की ।' इस तरह मैंने उनसे पूछना शुरू किया । मैंने उनसे पूछा कि जब श्यामसुन्दर दौड़ता है तब वह कौन सी क्रिया करता है? और उन्होंने उसका सही जवाब दिया । इसके बाद मैंने तख्ते पर लिखा – 'दौड़ते हैं, दौड़ो, बोलते हैं, बोलो, चलो, आदि ये सब क्रियापद हैं । इनमें हमें कुछ काम करना पड़ता है ।'

लड़कों ने इसे पढ़ा और समझा ।

साहब ने पूछा – 'फिर तुमने क्या किया ?'

मैंने कहा – 'जी, मैंने छात्रों से कहा कि लिख लाओ, जितने क्रियापद तुम्हें याद हों, सब लिख लाओ ।' लड़के जुट गए और जिसे जहाँ से क्रियावाचक शब्द मिला, उसने वहीं से उसको उठा लिया और लिख दिया ।'

साहब – 'फिर ?'

'फिर मैंने एक दूसरा खेल शुरू किया । तख्ते पर कुछ वाक्य लिखे – राम दौड़ता है । चम्पक पढ़ता है, आदि । और उनसे कहा कि इनमें से क्रियापद तो रहने दो और बाकी को मिटा डालो । लड़कों ने यह काम बिल्कुल सही-सही किया । बस, यहीं मैंने उस समय क्रियापद के पाठ को रोक दिया ।'

साहब – 'मेरे विचार में इस रीति से उन्हें याद तो अवश्य रहता होगा । लेकिन इसमें उनका समय बहुत जाता है और उन्हें अनेक खेल भी खेलने पड़ते हैं ।'

मैं – 'जी, खेल खेलने में ही तो आनन्द आता है । यदि थोड़ा समय बरबाद भी हो जाए, पर परिणाम अच्छा और स्थायी आए तो इसमें हानि ही क्या है?'

साहब – 'तुम सच कहते हो । खैर, अब यह बताओ कि संज्ञा के लिए तुमने क्या किया ?'

मैंने कहा – 'जी, संज्ञा का काम भी मैंने इसी प्रकार शुरू किया था । पहले तो अपनी रीति के अनुसार मैंने संज्ञाओं की चिट्ठियाँ बनाईं । संज्ञा, संज्ञा, संज्ञा । लड़कों

ने बहुत से संज्ञा-शब्द पढ़ डाले । बार-बार पढ़े । संज्ञा की सूची में विविधता भी खूब थी । और ये विविध नाम खास-खास समूहों में बाँट दिए गए थे । इससे इनका वाचन सबके लिए आनन्ददायक हो गया था । मुझे सब बातें इस तरह सिखानी पड़ती हैं कि विद्यार्थियों को पता भी न चले । अब वे क्रियापद और संज्ञा की चिट्ठियों में से संज्ञा को अलग करने में लगे थे । इस प्रकार दो वर्गों को अलग करने का उनका परिचय दृढ़ हो रहा था । एक बार मैंने उन्हें इकट्ठा करके कहा – 'देखो, मैं अब मँगाता हूँ, क्या मँगाता हूँ मैं कुछ नहीं कहूँगा । बस, जो नाम वाला हो, जिस चीज का कोई नाम हो, उसको तुम ले आओ । उठा लाओ । जाकर पूछो–तेरा नाम क्या है? अगर उसका कोई नाम हो तो उसको ले आओ ।'

लड़के झट समझ गए । वे दौड़ पड़े । तख्ते से पूछा – 'तेरा नाम?' खुद ही कहा–'तख्ता' तो चलो ।' और तख्ता आ गया । इसी तरह मेज आई । पत्थर, लकड़ी, धूल, कागज, किताब, तख्ती, कलम, डिबिया, आदि जो मिला, इकठ्ठा होने लगा । एक लड़का तो पास की कक्षा के एक विद्यार्थी को ही उठाकर ले आया । मैंने पूछा – 'यह क्या किया?' लाने वाले ने कहा – 'जी, इसका नाम है न !' कोई कहने लगा – 'जी, सूरज को कैसे लाएँ ?' दूसरे ने कहा – 'जी, नीम नहीं लाया जा सकता ।' मुझे विश्वास हो गया कि ये लोग अब संज्ञा का अर्थ समझने लगे हैं ।

कक्षा में यह खेल चल ही रहा था कि इसी बीच मैं संज्ञा की कतरनों वाली एक पेटी ले आया । ऊपर लिखा था – 'नामों की पेटी' । अन्दर पाँच सौ नाम थे । नाम ही नाम । लड़कों को अब आदत पड़ गई थी । पेटी खोलकर वे मुट्ठी-मुट्ठी नाम उठा ले गए और पढ़ डाले । मैंने पेटी में सब तरह के नाम रखे थे । एक ने पूछा – 'जी, यह 'लालिमा' किस चीज का नाम है ?' मैंने पूछा – 'तो यह लाली जो दिखाई पड़ती है, इसे तुम क्या कहोगे?' लड़का हँसकर लौट गया । इसके बाद मैंने संज्ञा और क्रियापदों की पेटियों को मिला दिया और फिर संज्ञाओं और क्रियापदों को छाँटने का काम उनको बताया । खूब रंग जमा । इस समय तक वे संज्ञा और क्रियापद का अपने मन में बसा हुआ भाव भली-भाँति व्यक्त कर सकते थे । इसके बाद मैंने एक दूसरा खेल बताया – क्रियापद के योग्य संज्ञा ढूँढने का और संज्ञा के योग्य क्रियापद ढूंढने का । उदाहरणार्थ, 'घोड़ा' शब्द लेकर हम 'दौड़ता है' या 'दौड़ा' क्रियापद ढूँढ सकते हैं और 'खाता है' शब्द लेकर रामचन्द्र या पूनमचन्द की तलाश में निकल सकते हैं । मैंने उन्हें यह सब समझा दिया और ढूँढे हुए शब्दों को जोड़कर रखना भी सिखा दिया । छात्रों को इसमें खूब मजा आया ।

इसके बाद मैंने तख्तों पर कुछ वाक्य लिखे और छात्रों से कहा – 'इनमें से संज्ञाओं और क्रियापदों को चुनो और तख्ती पर लिखो । इन वाक्यों में संज्ञाएँ दिखाओ । इनमें से संज्ञाओं को मिटा डालो और इनमें से क्रियापदों को मिटा डालो ।'

मैंने फिर पूछा – 'यह क्या है? इसको क्या कहते हैं?' और उन्होंने सब सही-सही बता दिया ।

इस प्रकार उन्हें संज्ञा और क्रियापदों का भेद करना आ गया ।

साहब ने कहा – 'भई, यह तो बड़ा ही अच्छा तरीका है । सचमुच इस तरीके से तो छात्रों को एक क्षण के लिए भी मेहनत नहीं पड़ी होगी । हाँ, इसमें साधनों का थोड़ा खर्च जरूर होता है और तुम्हारी तरह हृदय की सूझ-समझ भी आवश्यक है ।'

मैंने कहा – 'साहब, लड़कों को रटाई के त्रास से बचाने के लिए इतना खर्च पड़ा भी तो कोई बड़ी बात नहीं । यह सब तो मैंने अपने खर्चे से किया है । पुराने गत्ते ढूँढ्कर पेटियाँ बनाई हैं और घर में इधर-उधर पड़े हुए कागज लेकर उनकी पर्चियाँ तैयार कर ली हैं ।'

साहब – 'मैं कोशिश करूँगा कि तुम्हें यह रकम मिल जाए ।'

मैंने कहा – 'जी, रकम वापस दिलाने के बदले आप इस रीति को स्वीकार करा लें और प्रचलित करा दें तो मेरा खर्च अपने-आप वसूल हो जाएगा ।'

साहब – 'अच्छा, मैं देखूँगा । पर यह तो कहो कि इसके बाद तुमने और क्या किया?'

मैं – 'जी, इसके बाद मैंने विशेषण शुरू किए । लेकिन मेरी इन बातों से आप उकताते तो नहीं है न? एक तो व्याकरण जैसा रूखा विषय, और ऊपर से घुमा-फिराकर बात करने की मेरी आदत !'

साहब – 'नहीं, तुम कहते चलो । मैं सारी रीति को विस्तार से जानना चाहता हूँ। बगैर विस्तार से समझे सारा विषय समझ में आ भी तो नहीं सकता न? अच्छा, ज़रा ठहरो । चाय आ गई है, इसे पीकर आगे बढ़ेंगे ।'

वैसे भी साहब बड़े शौकीन जीव थे । ऊँचे प्रकार की चाय पीते थे । मेरे शौक को भी जानते थे । हमारे पूरे बीस मिनट चाय पीने में बीत गए । फिर तो हम ज़रा जोश में आए और बात आगे चली ।

मैंने कहा – 'जी, अपने रिवाज के अनुसार मैंने पहले लड़कों के सामने विशेषणों की पर्चियाँ रखीं । वे पर्चियाँ पढ़ने लगे ।' इतने में एक ने पूछा – 'जी, ये विशेषण क्या चीज हैं?'

मैंने कहा – 'देखो न, ये सब विशेषण ही तो हैं। सिर्फ विशेषण !' वे मन ही मन मेरी बात का मतलब कुछ-कुछ समझ रहे थे। बाद में फिर खेल शुरू हुए। वे विशेषण, संज्ञा और क्रियापद की पर्चियाँ पढ़ने और अलग करने में जुट गए।

इसके बाद मैंने उन्हें एक नया खेल सुझाया – 'देखो भाइयों, मैं जो मँगाऊँ, सो तुम लाओ।'

मैंने कहा – 'पेन्सिल लाओ।'

एक लड़का पेन्सिल लाया।

'लाल पेन्सिल लाओ।'

वह लाल पेन्सिल लाया।

'पीली पेन्सिल लाओ।'

पीली लाया।

'पेन्सिल रख जाओ।'

लड़के ने पूछा – 'कौन सी?'

मैंने कहा – 'लाल।'

फिर कहा – 'पीली लाओ। भूरी लाओ। गुलाबी लाओ। लम्बी लाओ। छोटी लाओ।' और वे वैसी पेन्सिलें लाते गए।

मैंने नया पाठ शुरू किया – 'कोई एक पेन्सिल उठाओ।'

एक पेन्सिल उठाई गई।

'अब यह हरी पेन्सिल उठाओ।'

हरी उठाई।

'अब वह पीली उठाओ।'

पीली उठाई।

'अब लम्बी उठाओ।'

लम्बी उठाई।

मैंने पूछा – 'तुमने खास कौन सी पेन्सिल उठाई है?'

'यह हरी पेन्सिल उठाई है।'

'खास कौन सी ली है'

'पीली ली है।'

'खास कौन सी ली है?'

'लम्बी ली है।'

मैंने तख्ते पर लिखा – 'ये खास शब्द हैं। ये विशेषण हैं, जो किसी खास चीज के सूचक हैं। ये उस चीज की विशेषता और कमी व अधिकता को बताते हैं।'

विद्यार्थियों ने पढ़ा और पढ़कर सोचा।

मैंने नामों और विशेषणों की पेटियाँ निकाल कर उन्हें एक खेल और बताया – 'संज्ञा का विशेषण ढूँढो, और विशेषण की संज्ञा ढूँढो।'

एक लड़के ने 'लाल' शब्द लिया और नाम की पेटी में से घोड़ा शब्द निकाला और 'लाल घोड़ा' जोड़ कर रखा। विशेषणों और नामों की ढेरियों में से इस प्रकार शब्दों के जोड़े बनाने लगे। मैं उनके काम को देखने और कक्षा में घूमने लगा। मैंने देखा कि उनका कोई-कोई जोड़ा गलत भी हो जाता था।

फिर तो मैंने अपनी भिन्न-भिन्न रीतियों से विद्यार्थियों की परीक्षा लेकर देखा। वे विशेषण का अर्थ मन में समझ चुके थे, इसलिए तत्काल सही-सही संज्ञा और विशेषण ढूँढ निकालते थे।

साहब ने कहा – 'भई, तुमने तो अनेक नए खेल खड़े कर दिए हैं। नामों, विशेषणों और क्रियापदों का परिचय भी छात्रों को सुन्दर रीति से करा दिया है। अच्छा, तो अब तुम उन्हें इनकी परिभाषा भी सिखाओगे या नहीं?'

मैंने कहा – 'जी, परिभाषा तो सिखा ही चुका हूँ न? रही व्याकरण में दी गई परिभाषाएँ, सो वे तो मैं इन्हें नहीं सिखाऊँगा। आपको परीक्षा मे उनसे पूछना भी नहीं चाहिए। हाँ, आप भेद पूछ सकते हैं।'

साहब ने कहा – 'मैं इस विषय की परीक्षा नहीं लूँगा। मुझे तो तुम्हारी यह रीति अपनी सब पाठशालाओं में चलानी है। बेचारे लड़के व्याकरण रट-रट कर मरे जाते हैं।'

मैंने कहा– 'जी, व्याकरण सीखते-सीखते तो मेरी नाकों दम आ गया था और पिटाई भी खूब होती थी। जब हमसे व्याकरण के प्रश्नों के उत्तर देते न बनता तो हमारे शिक्षक हमें बुरी तरह पीटा करते थे।'

साहब बोले – 'आजकल भी तो लोग इसी तरह पीटते हैं ?'

मैंने कहा – 'जी, आप इस प्रथा को बंद क्यों नहीं करवा देते ?'

साहब बोले – 'भई, यह तो मेरे हाथ की बात नहीं है। वैसे, कुछ हद तक है भी सही। पर अभी मेरा मत . . . . . .। हाँ, लेकिन हम अच्छी तरह पढ़ाएँ तो यह मारना, पीटना अपने-आप ही बन्द हो जाए। तुम्हीं देखो, व्याकरण सिखाते हुए तुम्हें किस-किस को सजा देनी पड़ी ? अच्छा तो अब यह बताओ कि सर्वनामों का तुमने

क्या किया ?'

मैंने कहा – 'जी, और क्या करना था ? छात्रों को एक छोटा सा खेल सिखा दिया। मैंने उन्हें समझाया – 'मैं अर्थात् कौन ?' वे बोले – 'लक्ष्मीशंकरजी।' 'तो तुम अर्थात् कौन ?' श्यामसुन्दर ने कहा – 'अर्थात मैं – श्यामसुन्दर।' मैंने पूछा – 'वह कौन है ?' – 'रामचन्द्र।'

ऊपर के सवाल पूछ लेने के बाद मैंने तख्ते पर लिखा –

मैं – लक्ष्मीशंकर।

तुम – भीमाशंकर।

वह – धनंजय।

हम – लक्ष्मीशंकर, भीमाशंकर, श्यामसुन्दर, धनंजय।

तुम – रेवाराम, लक्ष्मणसिंह, टीकमसिंह, देवीप्रसाद।

वे – उस तीसरी कक्षा वाले – मोहनसिंह, मूलचंद लखमीचंद, रूपसिंह।

लड़कों ने पढ़ा। मैंने कहा–'ये, मैं, तू, वह सर्वनाम कहलाते हैं।' एक ने पूछा–'जी, सर्वनाम क्या चीज है ?'

मैंने कहा – 'तुम्हीं सोचो न ?'

दूसरे ने कहा – 'साहब, मेरा अर्थात लक्ष्मणसिंह का, यही मतलब है न ? और लक्ष्मीशंकर जी का अर्थात् आपका, यही न ?'

तीसरा बोला –'तेरा, मेरा, उनका, ये सभी सर्वनाम हैं या नहीं ?'

मैंने कहा – 'हाँ, ये सर्वनाम ही हैं।'

चौथे लड़के ने पूछा – 'लेकिन सर्वनाम का मतलब क्या ?'

मैंने तख्ते पर लिखा –

राम के हाथ में तख्ती है।

राम के हाथ में कलम है।

राम ब्राह्मण है।

राम पढ़ता है।

राम रोज जल्दी आता है।

लक्ष्मीशंकर तुम्हारे शिक्षक हैं।

लक्ष्मीशंकर तुम्हें पढ़ाते हैं।

लक्ष्मीशंकर तुम्हें हवाखोरी के लिए ले जाते हैं।

सबने यह सब पढ़ा। फिर मैंने दूसरे वाक्य से 'राम' शब्द निकाल कर 'उसके'

लिख दिया। 'लक्ष्मीशंकर' निकालकर 'मैं' लिखा और क्रियापद में थोड़ा हेरफेर कर दिया। लड़कों ने पढ़ा और वे मतलब समझ गए।

मैंने पूछा - 'बताओ सर्वनाम किस की जगह लिखना चाहिए ?' किसी ने कहा, राम की जगह; किसी ने कहा, लक्ष्मीशंकर की जगह।

मैंने पूछा - 'राम और लक्ष्मीशंकर नाम हैं या क्रियापद हैं?'

'नाम हैं।'

'तो, राम और लक्ष्मीशंकर नामा के बदले जो शब्द आते हैं उन्हें क्या कहेंगे?'

'सर्वनाम !'

साहब हँस दिए। बोले - 'भई, तुम शिक्षक तो पक्के मालूम होते हो ! तुम बड़े विस्तार से और बराबर लगकर हर बात का वर्णन करते हो।'

मैंने कहा - 'जी, अब यह आदत कैसे दूर हो सकती है; वकील तो हूँ नहीं जो थोड़े में समेट लूँ।'

मैंने देखा, साहब अब थक चुके थे। मेरी बातों में उन्हें मजा तो खूब आ रहा था, फिर भी मैं चुप हो गया। मैंने इजाजत चाही और उन्होंने दे दी। साहब ने कहा 'तुम्हारी कक्षा की परीक्षा में से व्याकरण के विषय को मुक्त किया जाता है। लेकिन अभी काल और विभक्तियाँ तो बाकी ही हैं। जब ये हो जाएँ, तब एक बार और आकर सारी बातें सुना जाना। मैं अगले साल इस सम्बंध में अवश्य कुछ करना चाहता हूँ।'

मैं भी थका-माँदा घर आया और सो रहा।

3

छःमाही परीक्षा के दिन आए। साहब स्वयं ही परीक्षा लेने वाले थे। वे परीक्षा के शौकीन भी थे।

मैंने अपनी कक्षा की तैयारी कर रखी थी, पर अपने निजी ढंग से। मैंने उनसे आज्ञा माँग ली थी कि सारी पाठशाला की परीक्षा हो चुकने पर ही मेरी कक्षा की परीक्षा ली जाए। मेरी कक्षा की परीक्षा के समय सभी शिक्षक और प्रधानाध्यापक भी उपस्थित रहें। मैंने यह भी चाहा था कि मेरी कक्षा की परीक्षा के समय हर कक्षा के पाँच-पाँच विद्यार्थी भी वहाँ मौजूद रहें।

परीक्षा के दिन मेरे मन में शान्ति थी। मेरा कलेजा धड़क नहीं रहा था। मन में पास-फेल की दुविधा नहीं थी। मेरे अनुभव के अनुसार तो चिन्ता का कोई कारण ही

नहीं था । विद्यार्थियों से कह ही रखा था कि हम प्रतिदिन जो कुछ करते हैं, आज भी वही करना है । परीक्षा में तो सब पास ही हैं । आज तो अपना काम दिखाने के लिए सब लोगों को बुलाया भर है ।

अपनी नाटकीय रीति के अनुसार मैंने सारी व्यवस्था परदे की ओट में ही की थी । अगले भाग में सबको बिठाने के बाद मैंने परदा उठाया ।

मंच पर दूसरी कक्षाओं के लड़कों की कुछ टोलियाँ बिठाई गयी थीं । हर एक टोली को मेरी कक्षा का विद्यार्थी कहानी सुना रहा था । कहानी कहने का काम बारी-बारी से चला । हर एक विद्यार्थी ने अपनी कहानी आप ही पसन्द की थी । भूल जाने पर देख लेने के लिए किताब पास में रखी थी । वह अपने ढंग से अपनी कहानी विद्यार्थियों को सुनाता था और सुनने वालों के साथ वह भी कहानी का आनन्द लूट रहा था । निश्चय ही वह कहानी कहना जानता था । भाव-भंगिमा के साथ और अर्थ समझकर वह अपनी कहानी कह रहा था । कहानियाँ पूरी हुईं । सब शिक्षक एक-दूसरे को देखने लगे । मैंने कहा – 'यह है, मेरी एक परीक्षा ।'

एक शिक्षक ने दूसरे शिक्षक के कान में कहा – 'किस बात की ?'

मैंने सुना और कहा – 'भाषा पर काबू की, वार्ता-कथन की, रुचि की, स्मृति-विकास की और अभिनय की ।'

सब शिक्षक दूसरी परीक्षा की प्रतीक्षा करने लगे ।

फिर परदा उठा : सब छात्र गोलाकार बैठे थे । सामने तख्ते पर लिखा था – अन्त्याक्षरी का खेल ।

एक ने कविता पढ़ी । दूसरे ने उसके अन्तिम अक्षर से शुरू होने वाली दूसरी कविता पढ़ी । इस प्रकार सारा वृत्त पूरा हो गया । फिर वही अन्त्याक्षरी शुरू हुई ।

साहब ने पूछा – 'इन्हें आमने-सामने क्यों नहीं बिठाया? इसमें दलों की आवश्यकता है न ?'

मैंने कहा – 'जी, नहीं । मैंने इस प्रथा को छोड़ दिया है । इससे हार-जीत का भाव पैदा होता है । हार-जीत से स्पर्धा और स्पर्धा से ईर्ष्या पैदा होती है , जब कि इस रीति में एक छात्र को याद न होने पर उसके बाद वाला छात्र पढ़ना शुरू कर देता है और काम आगे बढ़ता रहता है । एक बार कभी याद न भी रहा तो दूसरी बार उसे याद हो जाता है ।'

साहब ने अपनी दाढ़ी खुजलाई और आँखें झपकाईं ।

लड़कों को मैंने बिठाया तो था कुछ देर खेलने के लिए, लेकिन उन्हें तो इतना

मजा आ गया कि घंटी बजने पर भी उठने का मन नहीं होता था। मैंने उन्हें कुछ मिनट और दिए। बाद में परदा गिरा दिया।

परदे के बाहर आकर मैंने कहा – 'सज्जनों ! आपने देखा होगा कि इन छात्रों को पाठ्यपुस्तक की कितनी काव्य-पंक्तियाँ भली-भाँति याद हैं। कविता के वर्ग में मैं इन्हें प्रतिदिन यही खेल खिलाता हूँ।'

साहब ने कहा – 'बहुत खूब ! बहुत खूब !'

परदा फिर उठा। गोलाकार में बैठे सब छात्र पहेलियाँ बूझ–बुझा रहे थे। उनमें खूब उत्साह था !

साहब ने कहा – 'ओहो ! ये तो पहेलियाँ हैं ! मैंने बचपन में तो सुनी थीं, लेकिन पाठ्यक्रम में ये कहाँ हैं ?'

मैंने कहा – 'जी, पाठ्यक्रम में भाषा-शिक्षण तो है न ? और पाठ्यक्रम के मूल में छात्रों की जिज्ञासा की, उनके विकास और ज्ञान की वृद्धि का आशय तो रहा ही है। मेरे सभी छात्र इस खेल पर मुग्ध हैं – पागल हैं। बहुत सी पहेलियाँ इन्हें जबानी याद हैं ! और हर पहेली का अपना कितना महत्त्व है ! इस समय ये पाठ्यक्रम में नहीं हैं। फिर भी मैंने तो इन्हें स्थान दिया ही है। आशा है, अगले साल आप भी इन्हें पाठ्यक्रम में स्थान दीजिएगा।'

इसके बाद हमने शब्दों का खेल शुरू किया। एक शब्द बोलने पर उसके अन्तिम अक्षर से शुरू होने वाला दूसरा शब्द बोला जाता और उसके अन्तिम अक्षर से तीसरा। यह खेल वैसे तो आसान था, लेकिन जब यह मालूम हुआ कि किसी एक विद्यार्थी ने गाँवों के, किसी ने नदियों के, किसी ने पहाड़ों के, किसी ने मुसलमानों के और किसी ने हिन्दुओं के, किसी ने जातियों के, किसी ने ब्राह्मणों के और किसी ने बनियों के, ऐसे ही नाम अपने-अपने लिए बोलने को चुन रखे हैं, तब तो सबको यह खेल और भी अनूठा प्रतीत हुआ।

मैंने अपने शिक्षक भाइयों से कहा – 'इस खेल के अन्तर्गत मैं अधिक-से-अधिक शब्द इकट्ठा करने के लिए अपने विद्यार्थियों से कहता हूँ। मैं उन्हें सुझाता हूँ कि वे नक्शों और शब्दकोष जैसी पुस्तकों पर नजर डालते रहें। इससे बहुतेरे शब्द उनकी जबान पर खेला करेंगे। अब बहुधा छात्र खेल खेलने के बदले तरह-तरह और भिन्न-भिन्न वर्ग के शब्द इकट्ठा करने में ही अपना बहुत सा समय बिता देते हैं। वे एक-दूसरे को शब्दों की याद भी करा देते हैं और कोई-कोई तो शब्द लिख तक लेते हैं।'

साहब बोले – 'भई, अब इस खेल की तह में तो एक महान तत्त्व मालूम पड़ता है । इस प्रकार के खेल बुद्धि-शक्ति और ज्ञान की वृद्धि के विचार से सब कक्षाओं में अवश्य शुरू किए जाने चाहिएँ ।'

मेरी ओर विशेष दृष्टि से देखकर उन्होंने कहा – 'तुम भी ठीक नई-नई बातें खोज निकालते हो ।'

एक शिक्षक ने दूसरे शिक्षक से इस तरह कहा कि साहब सुन न सकें – 'इसी के लिए तो यह लक्ष्मीशंकर यहाँ आया है । इसे पढ़ाना थोड़े ही है ? यह तो मौज मनाता है, मौज ! हमारा तो पढ़ाते-पढ़ाते सिर भन्ना जाता है । इधर इसके कार्यक्रमों में तो सिवाय खेल के और कुछ है ही नहीं!'

दूसरे शिक्षक ने कहा – 'भैया, अब पुरानी पढ़ाई के बाद इस नई पढ़ाई का जमाना आया है । अब वे दिन तो गए कि ताबड़तोड़ पाठ बोलना, और ग्रन्थ गाँठें और विद्या पाठें । अब तो पढ़ने के बदले यह खेल-कूद रह गया है । आगे चलकर न जाने और क्या-क्या होगा? अब किसी का मन पढ़ने में तो है ही नहीं । खेल खिलाएँ तो सबको भले मालूम हों ।'

मेरा ध्यान अपने विद्यार्थियों का काम दिखाने में था । इस कारण मैं उनकी यह बातचीत सुन ही नहीं सका । बाद में किसी ने मुझे यह बात कही थी । अस्तु ।

मैंने सीटी बजाई और सब लड़के हाथ में झाड़ू लेकर कतार बाँधे खड़े हो गए ।

मैंने झाड़ू के साथ उनसे कसरत करवाई । उन्हें चारों ओर बुहार डालने का हुक्म दिया । वे सारी पाठशाला में फैल गए । जहाँ कचरा देखा, वहीं उन्होंने झाड़ू लगाया और जो कचरा इकट्ठा हुआ, उसे एक टोकरी में भरकर हमारे सामने आ गए ।

अधिकारी महोदय और शिक्षकगण अचम्भे में आकर यह सब देख रहे थे । मेरी कक्षा के विद्यार्थियों की यह भी एक परीक्षा थी ।

साहब ने पूछा – 'झाड़ू के साथ कसरत क्यों करवाई , कुछ समझ में नहीं आया?'

मैंने कहा – 'जी, आजकल हमारे देश में गंदगी का बोलबाला है । गन्दगी हमारा एक राष्ट्रीय कलंक है । जब तक इसका साम्राज्य है, हमारी दुर्दशा का अन्त नहीं होगा । इसीलिए इसके खिलाफ मैंने पहला मोर्चा लिया है । गन्दगी को दूर करने के लिए हमें नियमित रूप से लड़ाई छेड़नी पड़ेगी । झाड़ू की यह कसरत तो एक संकेतमात्र है । इन लड़कों का पहला सबक यह झाड़ू-कसरत ही है । जब तक हमारा कमरा भली-भाँति साफ नहीं हो जाता, हम अपनी कक्षा में दूसरा काम नहीं करते ।

अब तो इन लड़कों को भी गन्दगी नहीं सुहाती ।'

बात चल ही रही थी कि इतने में लड़के हाथ, पैर, मुँह आदि धोकर आए और मैंने दूसरी सीटी बजाई ।

साहब–'तुम्हारा यह प्रयोग तो कुछ अजीब ही है । चौथी कक्षा की पढ़ाई का प्रयोग करते-करते ऐसी और क्या-क्या बातें की हैं तुमने ?'

मैंने कहा – 'जी, मेरे प्रयोग में इन सब बातों की छुट्टी है । चौथे दरजे की पढ़ाई पढ़ाने से पहले मुझे इन्हें पहले दरजे की पढ़ाई करवानी चाहिए न ?'

लड़के दौड़कर बाहर चले गए और पाठशाला के आसपास के पेड़ों पर चढ़ गए थे। मैंने दूसरी सीटी बजाई और वे कूद-कूदकर नीचे आए । तीसरी सीटी पर वे फिर पेड़ों पर चढ़े और चौथी पर उतर आए ।

प्रधानाध्यापक–'भई, यह पढ़ाई भी अजीब ही है ! यह सब तो बगैर पढ़ाए भी आ जाता है । भला, इसमें पढ़ाई क्या है ?'

मैंने कहा – 'जी, आजकल बगैर सिखाये ये भी नहीं आतीं और हम ऐसी बातें अपने छात्रों को सीखने भी नहीं देते ।'

प्रधानाध्यापक – 'नहीं, यह सच नहीं है ।'

मैंने कहा–'अपनी पाठशाला के ये दूसरे लड़के खड़े हैं । पूछ लीजिए कि इनमें से कितने इस प्रकार चढ़ और कूद सकते हैं ?'

बस, साहब ने उन सब लड़कों को पेड़ों पर चढ़ने का हुक्म दिया, लेकिन मुश्किल से दो-तीन ही चढ़ सके ।

मैंने कहा – साहब, इन बच्चों को इस प्रकार की बहुत-सी तालीम मैंने दी है । ये तमाम बातें मेरी शिक्षा के और मेरे प्रयोग के विषय हैं ।' फिर ज़रा हँसकर मैं बोला – 'साहब, परीक्षा-पत्र में इन सब खेलों के नाम हैं । इनके नम्बर आपको देने होंगे ।'

साहब ने विनोद ही में उत्तर दिया–'अच्छा, अच्छा ! तुम भी मुझसे नम्बर माँगोगे?'

मैंने तीसरी सीटी बजाई और लड़के पाठशाला की अलमारी में से लट्टू और डोरियाँ ले आए और अपने-अपने लट्टू घुमाने लगे । गली के बिगड़ैल लड़कों की तरह नहीं । बिना शोरगुल और तकरार किए वे यह खेल खेल रहे थे । वे एकाग्र थे और किसी प्रकार की भगदड़ या गलती उनसे नहीं हो रही थी । खेलने के लिए निश्चित स्थान था और उन सबका एक मुखिया था । हम सब बचपन में लट्टू खेले थे, इसलिए हममें से हर एक को इस खेल में आनन्द आ रहा था ।

साहब ने कहा – भई, इन्हें लट्टू खेलना तुमने कब सिखाया? ये तो बड़ी व्यवस्था और नियम के साथ खेल रहे हैं।

मैंने कहा – 'साहब, हमारी सीखने-सिखाने की जगह तो नदी का किनारा है। जब उधर हवाखोरी को जाते हैं तो वहाँ ऐसे-ऐसे अनेक काम किया करते हैं। हमें खेल-खेल में ही न जाने क्या-क्या आ जाता है।'

साहब ने अंग्रेजी में कहा–'तुम सच कहते हो। अभी-अभी मैंने पढ़ा है कि बालक खेल द्वारा बहुत-कुछ सीख लेते हैं। (प्रधानाध्यापक की ओर देखकर) अब अपनी पाठशाला में आप यह सब शुरू कीजिएगा न ?'

प्रधानाध्यापक बोले– 'लेकिन साहब, यदि हम यह सब करने लगें तो पाठ्यक्रम किस तरह पूरा होगा ? इन भाई के सिर जिम्मेदारी ही क्या है? एक साल तक जैसा पढ़ा सकेंगे, पढ़ाएँगे, और नहीं तो कह देंगे कि यह तो प्रयोग था–जितना हुआ, किया; बाकी न हो सका, न किया; लड़के नहीं कर सके। और आप भी कहेंगे कि प्रयोग में जितना सिद्ध हो जाए, वही गनीमत है। हम तो पाठ्यक्रम की इस जंज़ीर से बँधे हुए हैं। आप ही तो ऊपर से लिख भेजते हैं कि काम पूरा क्यों नहीं हुआ? परिणाम ठीक क्यों नहीं आया? पाठ्यक्रम पूरा क्यों नहीं किया गया?'

साहब तनिक हँसे। मन में कुछ खीझे भी। लेकिन रहे खामोश ही।

मैंने सीटी बजाई और लड़कों ने अपने कुर्ते निकाल डाले। वे कतार बाँधे खड़े हो गए। सब तनकर खड़े थे – ठीक और व्यवस्थित थे। सब साफ-सुथरे थे। ब्राह्मण लड़के की जनेऊ मैली नहीं थी। हाथ, मुँह, बाल, सब बराबर साफ - सुथरे थे। किसी की आँखों में कीच नहीं थी। टोपियाँ धुली हुई थीं।

साहब ने जरा हँसकर कहा– 'यह कितने दिनों की तैयारी है? सफाई आदि की यह तैयारी कराने में तो खूब मेहनत करनी पड़ी होगी?'

मैंने कहा– 'साहब, छः महीनों से तैयारी चल रही है। छः महीनों से मेहनत कर रहा हूँ। आपसे कौन बात छिपी है ?'

मैंने दूसरी सीटी बजाई। लड़के कपड़े पहनकर खुश होते हुए एक कतार में खड़े हो गए और नमस्कार करके चले गए।

प्रधानाध्यापक ने जरा कटाक्षपूर्वक कहा – 'क्या परीक्षा खत्म हो गई?

मैंने कहा – 'जी, अभी देर है। आप सब उस कमरे में पधारिए।'

प्रधानाध्यापक–'हाँ,हाँ ! आपने कुछ दिन हुए वह कमरा हम से किसी उपयोग के लिए माँग लिया था। आप हममें से किसी को अन्दर नहीं जाने देते थे। कुछ

इकट्ठा करा रहे थे न ?'

मैंने कहा – 'आप पधारिए तो !'

हम सब कमरे में आए ।

साहब – 'ओहो ! यह तो एक संग्रहालय ही है !'

प्रधानाध्यापक – 'मैं भी यही सोचता था । लड़के चीजें लाने और रखने में बड़े मशगूल रहा करते थे ।'

मैंने कहा – 'जी, लड़कों ने बड़े उत्साह से यह काम किया है । मैंने उन्हें कह रखा था कि तुम्हें जिस तरह भी सजाना हो, उसी तरह सजा लो । मैं तुम्हें थोड़ी भी सलाह नहीं दूँगा ।

साहब – 'क्या यह सारी सजावट और रचना विद्यार्थियों ने की है ?'

मैंने कहा – 'जी हाँ !'

साहब – 'लेकिन यह कैसे संभव है ? सजावट तो बहुत ही कलापूर्ण है!'

मैं चुप रहा । मेरे काम का परिणाम अब तो स्पष्ट ही अपना जौहर दिखा रहा था।

साहब ने कहा – 'ये तमाम चीजें कैसे और कहाँ से इकट्ठा कीं? छात्रों को प्रकृति का परिचय कराने के लिए ये सब तो बहुत ही उपयोगी हैं ।'

प्रधानाध्यापक बोले – 'साहब, ये लड़कों को प्राय: यात्रा के लिए ले जाते हैं । वहीं से यह सब चीजें लाए होंगे !'

साहब ने कहा – 'यह तो एक बड़ा जबरदस्त काम बन गया ! अब इस संग्रह को तोड़िएगा मत । यह तो सारी पाठशालाओं के लिए उपयोगी होगा । हम शिक्षकों से कहेंगे कि वे इस संग्रह को बढ़ाकर और भी बड़ा बनाएँ ।'

प्रधानाध्यापक मन में गुनगुनाए – 'और फिर पढ़ाएँगे कब ?'

लड़कों ने संग्रहालय की एक सूची तैयार की थी । साहब उसे पढ़कर बहुत खुश हुए । कहने लगे – 'ये लड़के तो इनाम के लायक हैं ।'

मैंने कहा – 'जी, इस संग्रह को तैयार करने का आनन्द ही इनका इनाम था । यह सारा संग्रहालय ही इनका इनाम है ।'

साहब–'तो भी .... ।'

मैं कुछ नहीं बोला ।

कमरे के एक कोने में मिट्टी के कुछ खिलौने रखे थे ।

साहब – 'ये किसने बनाए हैं ?'

मैंने कहा – 'जी, इन लड़कों ने ही ! इस कमरे में यहाँ से वहाँ तक मेरा कुछ भी

नहीं है ।'

साहब – 'लेकिन इन्होंने इतने सारे खिलौने किस दिन बनाए और कहाँ पकाए होंगे ?'

मैं – 'जी, ये नदी-किनारे हर हफ्ते बनाया करते थे, और वहीं भट्टी बनाकर इन्होंने पका भी लिए ।'

साहब – 'वाह ! भई, तुम्हारा दिमाग कुछ अजब ही जान पड़ता है । तुम्हारे ये प्रयोग अद्भुत हैं । जब तुम्हें कुछ भी साधन नहीं मिलते तो तुम नदी-किनारे दौड़ जाते हो । खेत की मिट्टी का गारा बनाते हो, और शाबाश....अब मुझे..... ।'

मैंने उन्हें आगे बोलने का मौका ही नहीं दिया । मैं बीच ही में बोल उठा – 'अब आप इस कमरे में आराम से कुछ देर बैठिए । मैं इनका कुछ दूसरा काम भी आपको दिखाऊँगा ।' सब यथास्थान बैठ गए ।

प्रधानध्यापक ने कुछ सोचते-सोचते कहा –'साहब, यह सब हम भी तो कर सकते हैं, लेकिन फिर छात्रों को पढ़ाएँ कब?'

इतने में मैं गत्ते के कुछ टुकड़े ले आया । एक गत्ते पर लड़कों के उस समय के अक्षरों के नमूने थे, जब उन्होंने पढ़ाई शुरू की थी । दूसरे पर कल के ताजा अक्षरों के नमूने थे । गत्ते पर लिखा था – 'अक्षर प्रगति-सूचक पत्रिका ।'

सबको अक्षरों की यह प्रगति अच्छी मालूम हुई ।

पर एक शिक्षक ने दूसरे के कान में कहा – 'अरे, ये तो खास-खास लड़कों से धीमे-धीमे जमवाकर लिखवाए होंगे ।'

मुझे उन शिक्षक का यह विचार खटका । पर मैंने इसकी कोई परवाह नहीं की । मुझे तो उनका यह विचार बहुत ही तुच्छ लगा ।

साहब – 'भई, तुमने यह परिवर्तन और यह सुधार किस प्रकार किया ?'

मैं – 'जी, भिन्न-भिन्न उपायों से ।'

साहब – 'तुम्हारे उन उपायों को पाठशाला में सम्मिलित किया जाए तो कैसा रहे?'

मैं – 'हो सकते हैं, जरूर हो सकते हैं । मैं आपको दिखा दूँगा ।'

फिर मैं एक दूसरी पुस्तक लाया । उसमें पिछले छः महीनों में विद्यार्थियों ने कुल जितनी पुस्तकें पढ़ी थीं, उनकी सूची थी । पुस्तक के हर एक पन्ने पर विद्यार्थी का नाम था । विद्यार्थी ने स्वयं पुस्तक पढ़ने के बाद पुस्तक का नाम अपने हाथों उसमें लिख दिया था ।

इससे मैंने अन्तिम पृष्ठ पर कुछ आँकड़े तैयार किए थे – कितने विद्यार्थियों ने कुल कितनी पुस्तकें पढ़ीं; औसतन प्रत्येक विद्यार्थी द्वारा कितनी पढ़ी गईं, सबसे अधिक पुस्तकें किसने पढ़ीं और सबसे कम किसने, आदि। किताबों की दृष्टि से भी यह अंकित किया था कि कौन-सी किताब अधिक पढ़ी गई और कौन-सी कम। पढ़ी हुई किताबों का वर्गीकरण करके बताया था कि कक्षा के छात्रों ने किस विषय की पुस्तकें अधिक दिलचस्पी के साथ पढ़ी थीं।

साहब ने वह सूची देखी तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। बोले – 'इतनी पुस्तकें पढ़ी गईं ! और इतने-इतने विषयों की ! ये कब पढ़ी होंगी ?'

'जी हाँ, इतनी पुस्तकें पढ़ी गईं हैं और सो भी मेरी आँखों के सामने ?'

साहब ने पूछा – 'प्रधानाध्यापक जी ! आपकी सातवीं कक्षा के विद्यार्थियों ने इन छः महीनों में कितनी पुस्तकें पढ़ी होंगी ?'

प्रधानाध्यापक जी – 'साहब पढ़ें कैसे ? वे दूसरी पुस्तकें पढ़ने लगें तो इतिहास, भूगोल, रेखागणित आदि का क्या हो? ये सब कब याद किए जाएँ।'

साहब बोले नहीं , लेकिन कुछ सोच जरूर रहे थे। मेरी ओर देखकर कहने लगे – 'तुम्हारे छात्र भाषा में बगैर परीक्षा के ही पास किए जाते हैं। कहो , अब क्या बाकी है?'

मैंने विद्यार्थियों का एक हस्तलिखित मासिक-पत्र उनके सामने पेश किया।

साहब ने पूछा – क्या ये सभी लेख इन छात्रों के ही हैं?'

'जी हाँ।'

'ये एक-दो कविताएँ हैं, सो भी ?'

'जी हाँ। अभी-अभी मेरे कुछ छात्र कविता लिखने की कोशिश करने लगे हैं।'

'लेकिन उनकी कविता को तुम सुधारते भी हो या नहीं ?'

'नहीं, अभी तक तो ऐसा नहीं किया है। जैसी लिखी हैं, वैसी ही प्रकाशित भी की गई हैं।'

'और , लड़के यह सब अपनी मस्तिष्क से लिखते हैं, या कहीं से नकल करते हैं या तुम इन्हें बतलाते हो?'

'नकल करने से मतलब? मैं तो उनसे कहता हूँ कि जो चाहो, लिखो। जो सूझे, लिखो। सब लिखा जा सकता है, और जो लिखो, प्रकाशित करो। उन्हें सब के लेख पसन्द आते हैं और मैं सब प्रकाशित भी कर देता हूँ।'

साहब–'यह अंक तो तुमने खासतौर पर छःमाही परीक्षा के लिए ही तैयार कराया

होगा?

मै–'जी नहीं। पिछले तीन महीनों से हर महीने यह काम होता है। हाँ, इस अंक को छ:माही परीक्षा में रखा जरूर है, लेकिन यह खास परीक्षा के लिए तैयार नहीं किया गया था।'

साहब ने प्रसन्नता से सिर हिलाया और कहा–'बहुत ही सुन्दर काम है।' मेरी तरफ देखकर बोले–'भई, तुम विलक्षण काम करके दिखलाते हो। छ: महीनों में कहाँ से कहाँ पहुँच गए !'

प्रधानाध्यापक ने धीरे से कहा–'अब गणित, भूगोल, और इतिहास की परीक्षा कब होगी? हम सब दोपहर को हाजिर रहें ?'

शायद प्रधानाध्यापक यह कहकर मुझपर कटाक्ष किया चाहते थे। मैंने अभी गणित और भूगोल में कुछ भी नहीं किया है–प्रधानाध्यापक जी को इसका पता चल गया था। मैंने कहा–'जी, भूगोल और गणित में मैं अभी कुछ नहीं कर सका हूँ, लेकिन बारहवें महीने तक यह काम भी करके दिखा दूँगा। इतिहास में कुछ थोड़ा काम हुआ है।'

प्रधानाध्यापक–'ओहो! तो यह कहिए न कि अभी बड़े-बड़े सब विषय तो रह ही गए हैं!'

साहब–'प्रधानाध्यापक जी ! वे तो आपकी दृष्टि से रहे हैं; इन महाशय की दृष्टि से नहीं। आपके विचार में तो इतिहास, भूगोल, गणित और पहाड़ों में ही सारी पढ़ाई समा जाती है। क्यों साहब, यही बात है न ?'

साहब को जरा मौज में देखकर प्रधानाध्यापक ने जवाब में कहा–'लेकिन साहब, आपकी दृष्टि भी तो ऐसी ही है। आप भी इन्हीं विषयों में हमसे परिणाम चाहते हैं।'

सब परस्पर विनोद करते हुए उठे। मेरी कक्षा की छ:माही परीक्षा पूरी हुई। जाते समय साहब ने मुझसे पूछा–'तुम्हारा परीक्षा-पत्र कहाँ है ?'

मैं बोला–'जी, वह तो तैयार ही नहीं किया गया।'

साहब–'अच्छा, तो तुम्हारी कक्षा परीक्षा से मुक्त की जाती है।'

चौथा खंड

अन्तिम सम्मेलन

1

छ:माही परीक्षा समाप्त हो चुकी थी । अपनी पाठशाला के शिक्षक भाइयों के साथ बैठा एक दिन मैं उनसे बातचीत कर रहा था कि चन्द्रशंकर ने कहा – 'सच कहता हूँ, मुझे तो आप एक अजीब आदमी मालूम पड़ते हैं । मैं मानता हूँ कि आपका प्रयोग सफल हुआ है । हमें विश्वास नहीं होता था कि प्राथमिक शाला की पढ़ाई में भी कुछ सुन्दर परिवर्तन किए जा सकते हैं ।'

भद्रशंकर बोले – 'भई, यह तो अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे हैं न ! अंग्रेज़ी किताबें पढ़ते हैं और नए-नए प्रयोग करते हैं ।'

चम्पकलाल ने कहा – 'सो तो करते ही हैं, लेकिन सब ऐसा नहीं कर सकते । इन्हें न रुपए-पैसों की चिन्ता है, न परिणाम की परवाह । इनके प्रयोग असफल भी रहें तो इन्हें कौन सजा भुगतनी पड़ती है?'

वेणीलाल कहने लगे – 'भैया, प्रयोग करें कैसे? फुरसत तो मिलती ही नहीं । इतनी बातें सोचने और यह सब तैयारी करने के लिए समय किसके पास है? हम करें भी तो क्या? ट्यूशन हमें करनी पड़ती है, शाम को रोज बड़े साहब के घर हाजिरी हमें देनी पड़ती है, घर के बाल-बच्चों की हिफाजत और जात-जमात में शिरकत हमें करनी पड़ती है । इतना सब करने के बाद कम्बख्त वक्त ही कहाँ रहता है कि कुछ करें? ये तो अकेले हैं, फक्कड़ हैं । ये ही ऐसा कर सकते हैं ।'

अन्त में मैंने कहा – 'भाइयो ! हम अपनी प्राथमिक पाठशाला में इससे भी अधिक काम कर सकते हैं । इतना काम कर सकते हैं कि वर्तमान प्राथमिक शिक्षा का रूप ही बदल जाए, कायापलट ही हो जाए । लेकिन बात यह है कि इसके लिए काम करनेवालों की जरूरत है । दुनिया की जो सूरत आज है, वह पहले नहीं थी – सूरत बदलने का यह काम मनुष्यों ने ही तो किया है न ! आवश्यकता है लगन की, प्रखर आत्मविश्वास की, अखंड एकनिष्ठा की । यह जरूरी नहीं है कि अंग्रेजी पढ़े-लिखे ही

अच्छे प्रयोग कर सकें। यह तो थोथी बात है। जब आदमी कुछ करना नहीं चाहता, तब ऐसे ही बहाने बनाता है। सच्ची चीज तो दिल की लगन है। वह लगन, जो किसी चीज के लिए तड़पने वाली हमारी आत्मा से हमें प्राप्त होती है। और चम्पकलालजी! परिणाम की चिन्ता तो प्रयोग करने वाले को जितनी होती है, उतनी दूसरों को कभी हो ही नहीं सकती। आप वेतन-वृद्धि की इच्छा से अच्छे परिणाम की चेष्टा करते हैं और मैं प्रयोग के लिए प्रयोग करता हूँ, जिससे मेरा उद्देश्य सिद्ध हो और कार्यक्षेत्र व्यापक बने। मुझे चिन्ता रहती है कि कहीं मेरी निष्फलता मेरे बाद के प्रयोग करने वालों के लिए बाधक न बन जाए! और भाई वेणीलालजी! जात-जमात में आने-जाने और गप्पें हाँकने के लिए कोई फुरसत चाहता भी है? ये भी कोई काम में काम हैं? और बड़े साहब के घर रोज-रोज जाने की जरूरत ही क्या है? आप अच्छा काम करके दिखाइए। वे अपने-आप खुश हो जाएँगे। खुशामद से भी कोई खुश होता है? खुशामद तो वे करते हैं, जो काम करना नहीं जानते। यदि पाठशाला में हम अपने छात्रों को अच्छी तरह पढ़ाएँ तो किसी को ट्यूशन की जरूरत ही क्यों रहे? हम नहीं पढ़ाते, इसी से तो ट्यूशन की आवश्यकता पड़ती है।'

शिवशंकर बात काटते हुए बोले – 'लेकिन भाई, जिन्हें वेतन ही कम मिलता है, उनका क्या? आप तो मुँह-माँगा वेतन पाते हैं, लेकिन हमारा तो गुजारा भी नहीं हो पाता।'

मैंने कहा – 'आप ज्यादा वेतन माँगिए, आपको मिलेगा।'

विश्वनाथ ने कहा – 'जी-हाँ! वेतन तो नहीं मिलेगा, हाँ, नौकरी से छुट्टी जरूर मिल जाएगी।'

मैंने कहा – 'यदि सब शिक्षक मिलकर अधिक वेतन की माँग पेश करें तो देखें कि कितनों की छुट्टी की जाती है। और मैं तो यह कहता हूँ कि अलग किए जाने से पहले आप खुद ही अलग क्यों नहीं हो जाते? आप लोग जरा बेफिक्र (अनासक्त) रहना सीखिए। मेरी सफलता का एक कारण यह भी है कि मैं बेफिक्र रहता हूँ।'

भद्रशंकर ने कहा – 'और फिर पेट-पूजा किस तरह होगी?'

मैं बोला – 'पेट-पूजा? जिसने पेट दिया है, वह खाने को भी देगा। हममें थोड़ी हिम्मत चाहिए। धंधों की कौन कमी है? मैं तो झाड़ू लगाकर भी पेट भरना पसन्द करूँगा। आपकी तरह आधा भूखे रहना मुझसे सहन न होगा। आप लोगों के वेतन भी कोई वेतन हैं?'

विश्वनाथ बोले – 'अजी साहब, एक जगह खाली होती है तो एक सौ उस पर

टूट पड़ते हैं । आपको कुछ पता भी है?'

मैंने कहा – 'हम उन टूट पड़नेवालों का विरोध करें । हम उन्हें अपना 'चार्ज' देंगे, तभी न वे काम कर सकेंगे? और हम नए आदमियों को अपना 'चार्ज' लेने ही क्यों देंगे? हम पाठशाला के चारों ओर चौबीसों घंटे पहरा देना कबूल कर सकते हैं, पर जिस गड्ढे में हम पड़े हुए हैं, उसमें दूसरों को कैसे गिरने दे सकते हैं? उनके पैर पकड़कर हम उन्हें समझाएँगे कि महाशय, आप लौट जाइए, कोई दूसरा धंधा ढूँढ़ लीजिए । इस भुक्खे धंधे में न फँसिए, इस खुशामदखाने में मत आइए, इससे दूर रहिए !'

फिर तो घंटों तरह-तरह की चर्चा होती रही । आज मैंने देखा कि मेरे साथी शिक्षकों में कुछ नया उत्साह-सा आया था । मैंने सोचा, चलो पुराने ढर्रे की गुलामी की जड़ें कुछ तो ढीली हुईं !

2

अब मैं भूगोल सिखाने का विचार करने लगा । मैंने भूगोल की पाठ्यपुस्तक देखी और निराशा से एक ओर रख दी । पाठ्यक्रम पढ़कर मन को कुछ ठेस-सी लगी । लड़कों को नदियों और पहाड़ों के नाम व्यर्थ क्यों रटाए जाएँ? खुद मुझे भी ये सब कहाँ याद हैं? कल स्वयं डिप्टी डायरेक्टर महोदय भी नक्शे में आस्ट्रेलिया का रास्ता ढूँढ़ रहे थे । बचपन में रटा हुआ भूगोल किसे याद रहता है ? मैंने सोचा, मैं यह भूगोल पढ़ाऊँ ही नहीं तो ? खुद मुझे भी सच्चा भूगोल तभी समझ में आया, जब मैं अफ्रीका गया । उसके बाद ही मेरी भौगोलिक आँखें खुलीं । आज मुझे भूगोल में बहुत ही दिलचस्पी है । भूगोल मुझे अत्यन्त उपयोगी मालूम होता है । लेकिन इन विद्यार्थियों को यह सब अभी से क्यों समझाऊँ और क्यों पढ़ाऊँ? इस पाठ्यक्रम के अनुसार तो मैं चल ही नहीं सकता । यह पाठ्यपुस्तक देखकर तो मुझे हँसी ही आती है । तो क्या डायरेक्टर साहब से मिलूँ? अपने ढंग से विद्यार्थियों में भौगोलिक रुचि और दृष्टि उत्पन्न करने की अनुमति उनसे ले लूँ ?'

मैं डिप्टी डायरेक्टर साहब के पास गया ।

साहब ने पूछा – 'कहिए, आज कैसे?'

मैंने कहा – 'जी, पाठ्यक्रम से भूगोल का विषय हटा ही क्यों न दिया जाए?'

'भई, यह तो नहीं हो सकता । पाठ्यक्रम में भूगोल बहुत ही महत्त्व का विषय है । इतिहास की अपेक्षा भी आज भूगोल काम की वस्तु है । हमारे प्रयोग में विषय

छोड़ देने की बात नहीं है । अच्छी तरह विषय पढ़ा देने की बात है । तुम चाहे जिस रीति से पढ़ाओ, लेकिन दूसरे शिक्षकों को यह विश्वास करा दो कि भूगोल एक सरल विषय है और अच्छी तरह पढ़ाया जा सकता है । मेरे लिए तुम्हारे प्रयोग का महत्त्व इसी बात में है ।'

डायरेक्टर साहब ने बड़ी कुशलता से मेरा मुँह बंद कर दिया । फिर भी मैंने कहा – 'जी, पर यह पाठ्यपुस्तक और पाठ्यक्रम तो मैं नहीं स्वीकार करूँगा । मैं अपने ढंग से भूगोल सिखाऊँगा । आशा है, आपको उससे निराशा नहीं होगी ।'

साहब ने कहा – 'मैं भी यही चाहता हूँ ।'

कुछ देर के बाद उन्होंने एक दूसरा सवाल पूछा – 'लक्ष्मीशंकर ! तुम्हारा क्या ख्याल है? इन परीक्षाओं के सम्बंध में तुम क्या सोचते हो? नवीन शिक्षण के हिमायती तो परीक्षा का अत्यन्त विरोध करते हैं, और इसकी बुराइयाँ वास्तव में भयंकर हैं भी । पर हमें तो शिक्षा-विभाग चलाना है । हम परीक्षा को कैसे हटा सकते हैं? हमें परिणाम की भी आवश्यकता है । और हम परीक्षा न लें तो संभव है कि शिक्षक मन लगाकर पढ़ाना ही छोड़ दें । यदि कोई श्रेष्ठ शिक्षक पढ़ाता रहे तो भी वह पढ़ाना जानता है या नहीं, परीक्षा के अभाव में हमें इसका पता कैसे चलेगा ? और इस सब के अलावा यह जानने का भी कोई तरीका तो होना ही चाहिए कि विद्यार्थी ने पढ़ने में कुछ तरक्की की है या नहीं? इस कठिन समस्या के सम्बंध मे तुम्हारी क्या राय है?'

मैंने कहा – 'जी, आपकी समस्या वास्तविक है । जब तक चाहे जो विद्यार्थी पढ़ता है और चाहे जो शिक्षक पढ़ाता है, तब तक परीक्षा की आवश्यकता भी रहेगी! परीक्षा हटाई तो तभी जा सकती है जब विद्यार्थी दिल की उमंग के वश में होकर पढ़ने आए और सामने से पढ़ाने में कुशल, कलाकार शिक्षक भी उमंग से पढ़ाने बैठे । लेकिन आजकल की स्थिति में तो परीक्षा के प्रवेश की पूरी गुंजाइश है ।'

डायरेक्टर साहब ने कहा – 'तो भई, मैं इस सम्बंध में कुछ सुधार करना चाहता हूँ ।'

मैंने कहा – 'आज आप केवल छःमाही और सालाना परीक्षा लेते हैं । इसके बदले मासिक परीक्षा लेना शुरू कीजिए । यदि विद्यार्थी के लिए परीक्षा की कसौटी पर कसा जाना आवश्यक ही है तो परीक्षा का जितना विशेष परिचय उसे होगा, उसका त्रास उतना ही घटेगा । अति परिचय से त्रास भी सहन करने योग्य बन जाता है । दूसरे, परीक्षा होशियार विद्यार्थियों की प्रगति को मापने के लिए नहीं, बल्कि कच्चे और कमजोर विद्यार्थियों को जगाने के लिए, उनकी कमजोरी का ठीक पता लगाने

के लिए ली जाए। दृष्टि-बिन्दु का यह महत्त्वपूर्ण परिवर्तन है। तीसरे, जिन विद्यार्थियों को विश्वास हो कि वे अपने विषय को जानते हैं, उन्हें परीक्षा से मुक्त रखा जाए। विद्यार्थी स्वेच्छा से अपनी कमजोरी की जाँच के लिए परीक्षा दें और उन्हें समझा दिया जाए कि जो अपनी कमजोरी की जाँच नहीं करेगा उसे कमजोरी दूर करने का मौका नहीं दिया जाएगा। परीक्षा उन्हीं विषयों की ली जाए जो परीक्षा द्वारा जाँचे जा सकते हैं। बाकी विषयों को परीक्षा से मुक्त रखा जाए। और परीक्षा के समय विद्यार्थियों को पाठ्यपुस्तकें देखकर उत्तर देने की स्वतंत्रता भी दे दी जाए। हम उनसे कह दें कि जो चीज याद न हो, उसे पुस्तक में देख लें और फिर जवाब दें। जो जबानी कह न सकें, वे किताब में देखकर समझाएँ। जवाब देते समय विद्यार्थी पाठ्यपुस्तक का कैसा उपयोग करता है, इसी में तो उसकी परीक्षा है। इसके अलावा, हम विद्यार्थियों को तीन श्रेणियों में विभक्त कर दें – ऊपर के दर्जे में चढ़ने लायक, नालायक और कमजोर जो पक्के बनकर आगे चढ़ने लायक हैं। पहले नंबर में पास और दूसरे नंबर में पास का रिवाज ही मिटा दिया जाए।'

डायरेक्टर साहब बात काट कर बोले–'तो भई, अगले साल मुझे तुम्हें अपना सहायक बनाना होगा।'

मैं मुस्कराया और आगे कहना शुरू किया–'और, परीक्षा शिक्षकों द्वारा ही ली जानी चाहिए। वे ही अपने विद्यार्थियों की शक्ति को अधिक जान सकते हैं। उनकी कमजोरी के कारणों से भी वे परिचित रहते हैं, और ऊपर के दर्जे में चल सकेंगे या नहीं, इसे भी वे ही बता सकते हैं। हाँ, एक सहायक की आवश्यकता तो है। विद्यार्थियों की परीक्षा लेने के लिए नहीं, बल्कि परीक्षक की परीक्षा लेने के लिए; यह देखने के लिए कि परीक्षक बराबर परीक्षा लेना जानता है या नहीं।'

डायरेक्टर–'यह एक और अजीब बात तुमने सुझाई।'

मैंने कहा–'जी-हाँ, बात तो कुछ ऐसी ही है।'

परीक्षा के सम्बंध में मुझे कुछ और भी कहना था, लेकिन साहब के भोजन का समय हो चुका था और वे उठ खड़े हुए थे। अन्त में हँसते-हँसते वे कहने लगे–'अच्छा तो इस सम्बंध में हम एक बार और विचार करेंगे। अब एक बार सब शिक्षकों के सामने तुम इस पर एक भाषण भी दो।'

मैंने उन्हें नमस्कार किया और मन में यह सोचता हुआ चल दिया कि सिर्फ भाषण सुनकर सुधरने वाले शिक्षक हैं कहाँ? परीक्षा के मोह से उन्हें मुक्त करना बहुत मुश्किल है। फिर भी अगर किसी तरह यह सम्भव है तो वह सिर्फ डायरेक्टर

साहब की आज्ञा से ही सम्भव है। लेकिन वे बेचारे तो .... ।'

3

चौथी कक्षा के लड़के भूगोल के नाम और विषय से कुछ परिचित थे। मैंने नक्शे मँगाए और काठियावाड़, गुजरात और बम्बई क्षेत्रों के नक्शे दीवार पर टाँगे। लड़कों को आश्चर्य-सा हुआ। आज तक मैंने उन्हें भूगोल पढ़ाया ही नहीं था। वे अपनी कापियों में से कागज फाड़ने और उसकी नलियाँ बनाकर छोटी उँगलियों पर चढ़ाने लगे। मैं देखता रहा।

मैंने पूछा–'तुमने ये नलियाँ क्यों बनाईं?'

लड़कों ने कहा–'साहब, नक्शा बताने के लिए।'

मैं चौंक पड़ा–नक्शा भी बताया जाता है! भूगोल शिक्षण ने तो गजब कर डाला! कुछ देर के मनोरंजन के लिए मैंने लड़कों से कहा–'भला, भावनगर तो दिखाओ।'

एक लड़के ने बम्बई प्रांत के नक्शे पर चौतरफा नज़र दौड़ाई। बंबई पढ़ा, अहमदाबाद पढ़ा, हैदराबाद पढ़ा और नीचे उतरकर पूना पढ़ा। फिर इस तरफ आकर पोरबन्दर पढ़ा। पीछे खड़े हुए दो-तीन लड़कों ने भावनगर खोज रखा था। उनकी नलियाँ भावनगर दिखाने को अधीर हो रही थीं। आखिर एक ने बिना पूछे भावनगर दिखा ही दिया।

मैंने पूछा–'भावनगर किस दिशा में है?'

लड़कों ने ऊँचे-नीचे, दाएँ-बाएँ देखकर मन में कुछ हिसाब-सा लगाया और कहा–'जी, उत्तर में।'

दूसरा लड़का बोला–'उत्तर तो ऊपर की ओर है। यह तो पूर्व कहलाता है।'

मैं हँस पड़ा। मैंने कहा–'ऊपर तो आकाश है, वहाँ उत्तर कहाँ है?'

लड़के बोले–'जी, नहीं। ऊपर उत्तर और नीचे दक्षिण।'

दूसरा लड़का बोला–'जी, उत्तर-दक्षिण लम्बा और पूरब-पश्चिम चौड़ा।'

तीसरा बोला–'जी, सूरज इस तरफ उगता है। यह पूरब है।'

मैंने कहा–'दिखाओ, इस नक्शे में सूरज कहाँ है?'

सब सोच में पड़ गए।

मैंने पूछा–'शत्रुंजय नदी दिखाओ।'

लड़कों ने नली से नदी दिखला दी।

मैंने पूछा–'यह किसमें मिलती है?'

नक्शे में पढ़कर लड़कों ने जवाब दिया–'खम्भात की खाड़ी में ।'

मैंने पूछा–'इधर अरब सागर में क्यों नहीं मिलती?'

एक लड़के ने कहा–'जी, यह तो उसकी मर्जी । उसे खम्भात की खाड़ी में ही मिलना होगा ।'

मैंने पूछा–'यह नदी यों निचाई में क्यों मिलती है ?'

लड़का बोला–'जी ऐसे ही तो बहेगी ! देखिए न, दक्षिण इधर नीचे की तरफ ही तो है?'

मुझे ताज्जुब हुआ । पिछले साल पढ़ा हुआ भूगोल वे भूले नहीं थे । सफल रटाई का यह एक उदारहण था । इस साल भी मैं इसी तरह सिखा सकता था । लेकिन वह कोई भूगोल की शिक्षा होती? मैंने लड़कों से कहा–'नक्शे बन्द कर दो । एक महीने के बाद हम भूगोल शुरू करेंगे । अभी कुछ दिन तो तुम चित्र बनाओ ।'

लड़के मुझे देखने लगे । चित्रों का विषय शाला में नया ही था । पाठ्यक्रम में उसका स्थान भी नहीं था । शाला में ऐसी एक भी सृजनात्मक प्रवृत्ति के लिए कोई जगह नहीं थी । लेकिन मुझे एकाध प्रवृत्ति आरम्भ करनी थी ।

दूसरे दिन मैंने लड़कों से कहा–'देखो, तुम चित्र बनाओ; जो चाहो, बनाओ; जैसे चाहो, जैसे आए, बनाओ । देख-देखकर बनाओ, नकल करके बनाओ, याद करके बनाओ, चाहे जैसे बनाओ । आदमी बनाओ, ढोर बनाओ, पक्षी बनाओ, पतंगे बनाओ, पेड़ बनाओ, फूल बनाओ, आकाश बनाओ, घर बनाओ, वस्तु बनाओ, नक्शे बनाओ, जो चाहो, बनाओ !'

बस, तख्ती पर कलम से चित्र बनने लगे ! बाँके-टेढ़े, जैसे-तैसे, कई प्रकार के चित्र बनने लगे । सुबह का सारा समय चित्रों में बीत गया । घंटी बजी, तब सबको सुध आई । कक्षा का समय पूरा हो चुका था ।

मैंने लड़कों से कहा–'जिनके माता-पिता पेंसिल और कागज दें, वे कापी पर चित्र बनाएँ । बाकी सब तख्ती पर ।'

दो-चार दिन इसी तरह बीत गए । इस बीच अनेक चित्र बन गए–ऐसे कि जिन्हें चित्रकार फूटी आँखों भी न देखें । फिर भी वे चित्र विद्यार्थियों की अपनी कल्पना के, उनकी अपनी शक्ति के परिणाम थे ।

मैंने सोचा–'इन चित्रों का हिसाब और संग्रह रहना चाहिए । कुछ कष्ट उठाकर साहब से मिला । एक ओर से कोरे रद्दी कागज निकलवाए और साहब से दो दर्जन रंगीन पेंसिलें लीं । साहब ने हँसते-हँसते कहा–'मालूम पड़ता है कि फिर पढ़ाई को

एक ओर रखकर तुमने चित्रों का यह नया विषय निकाला है।'

हर एक विद्यार्थी से चित्र के विषय के अनुसार एक-एक कापी बनवाई और विषयक्रम के अनुसार उसमें चित्र बनाने को कहा। चित्रों के वातावरण के रूप में मैंने नीम की सलियाँ, पीपल के पत्ते, तुलसी की मंजरी और सदाबहार और अकाव के फूल रखे। दूकान से तरह-तरह के छपे हुए किनारों के टुकड़े नमूनों के लिए लाकर रखे। अपने कुछ मित्रों के घर से दो-चार अच्छे चित्र लाकर कक्षा में टाँग दिए। सदा उपयोग में आनेवाली अनेक चीजें, जैसे, दवात, कलम, डिब्बी, पेटी, वगैरा सजाकर तरतीब से रखीं। एक तख्ती पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा-'चित्र बनाओ, चित्र बनाओ, चित्र बनाओ ! अपने आप बनाओ। तुम चित्र बनाना जानते हो। रोज-रोज अच्छे-अच्छे चित्र बनते जाते हैं। चित्र बनाओ !'

लड़के चित्रों के पीछे ऐसे पड़े कि बस ! कुछ ने तो छपाई और बेलबूटे का काम असल की तरह करके दिया। किसी ने फूलों के रंग जैसा ही रंग अपने फूलों में भरा। कोई चित्र नहीं बनाता था, तो कुछ दूसरे बैठे-बैठे यही देख रहे थे कि चित्र किस तरह बनाए जा रहे हैं।

एक पखवाड़े के बाद मैं हाई स्कूल के एक चित्र-शिक्षक को बुला लाया। मैंने उनसे कहा-'आपको चित्र बनाना सिखाने की आवश्यकता नहीं है। तख्ते पर आप अपनी रुचि के चित्र बनाते चलिए। पर धीमे-धीमे और ज़रा सफाई के साथ बनाइएगा। पेड़ देखकर पेड़ बना दीजिए। कुर्सी देखकर कुर्सी बना दीजिए।' चित्र-शिक्षक ने ऐसा ही किया और विद्यार्थी तल्लीन होकर देखते रहे। दूसरे दिन चित्रों का काम और भी जमा। ऐसा जान पड़ता था मानो विद्यार्थियों ने चित्र बनाने के नियमों को विशेष रूप से समझ लिया है। इसके बाद मैंने उनके चित्रों के नीचे तारीख और नाम लिखवाना शुरू किया।

कुछ दिन और बीतने के बाद मैंने उन चित्रकार सज्जन को फिर बुलाया, और उनसे मैंने छात्रों को यह समझाने की प्रार्थना की कि रेखाचित्रों या आलेखन-चित्रों में रंग कैसे भरा जाता है। चित्रकार ने एक, दो, तीन, चार, पाँच..... कई चित्रों में सफाई के साथ पेंसिल से रंग भरकर दिखा दिया। विद्यार्थियों को रंग भरने की एक नई तरकीब हाथ लग गई।

थोडे दिनों के बाद मैंने अपने एक सर्वेयर मित्र को बुलाया और उन्हें पाठशाला का माप लेकर उसका नक्शा बना देने को कहा। मैं और मेरे मित्र पाठशाला का 'प्लैन' मापते थे और लड़के हमारे साथ-साथ घूमते थे। लड़कों की आंखों के सामने

हमने उन्हें कागज पर मकान का नक्शा खींचकर दिखाया। दो-चार दिन तक मैंने लड़कों को सर्वेयर के ऑफिस में भेजा और वहाँ उन्हें यह समझाया गया कि नक्शा - नवीस लोग गलियों और गाँव वगैरा के नक्शे किस प्रकार बनाते हैं। एक-बार दो लड़कों को पैमाइशवालों के साथ मैं गाँव की सरहद पर ले गया और उन्हें प्रत्यक्ष पैमाइश का काम दिखाया। इस प्रकार अब लड़के मदरसे का, कमरे का, अपने घर का, गली का और कभी - कभी कुएँ और तालाब का भी चित्र बनाने लगे। उनकी चित्रकला को बढ़ाने के लिए मैं कभी - कभी उन्हें प्रकृति के बीच घुमाने के लिए भी ले जाता था। आँखों को किसी वस्तु के आकलन का अभ्यास कराने के लिए मैं उन्हें तरह-तरह के खेल खिलाता था– जैसे, किसी पेड़ पर दृष्टि डालते ही उसके तने और डालियों आदि को देखकर या आँखें बंद रखकर उन्हें कागज पर बना लेना। सूर्योदय के समय के रंगों को निरखकर उन्हें ध्यान में रखना। सायंकाल के बदलते हुए रंगों की खूबियाँ देखना। इस बात का स्वानुभव प्राप्त करना कि दूर से पेड़ कैसा दिखता है और पास से कैसा। पेड़, वस्तु, पर्वत, मनुष्य और उनकी छाया के प्रकारों को ध्यानपूर्वक देखना, आदि - आदि। इस प्रकार कुछ ही दिनों में मेरी कक्षा में चित्रकला कां काम चल निकला।

4

एक दिन हाई स्कूल से मैं एक दूरबीन ले आया। लड़कों को मैंने उसमें दिखाया कि दूर की चीजें किस प्रकार नजदीक दिखाई देती हैं। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। सारा दिन बारी-बारी से वे दूरबीन को आँखों पर लगाए ही रहे। रात मैं ग्रहों और तारों को देखने का एक 'टेलिस्कोप' ले आया। मेरे मित्र कहने लगे–'भई, तुम तो बड़े ही उद्यमी हो !'

मेरे साथी शिक्षक तो अब बहुधा ऐसे सब अवसरों पर मेरे साथ ही रहते थे। मेरी निंदा छोड़कर मुझसे कुछ सीखने को वे तैयार हुए थे। डायरेक्टर साहब ने उनकी सहमति से यह ठहरा दिया था कि सप्ताह में एक-एक घंटा सब मेरी कक्षा में आकर देखा करें कि मैं किस तरह काम करता हूँ।

शाम को मैंने अपने विद्यार्थियों को चन्द्रमा और तारे दिखाए। देखते ही वे 'अहाहाहा !' कह उठे !

चन्द्रमा दिखाते हुए मैंने कहना शुरू किया–'देखो, चन्द्रमा में वह जो चर्खा चलाती हुई बुढ़िया और बकरी दिखाई पड़ती है, वे चन्द्रमा पर बड़ी - बड़ी खाइयाँ

और पर्वत हैं । वहाँ इतनी ज्यादा सर्दी पड़ती है कि मनुष्य बिल्कुल जीवित नहीं रह सकते ।' लड़के मेरा मुँह ताकने लगे ।

मैंने कहा–'जिस धरती पर हम रहते हैं, वह और चन्द्रमा दोनों बहनें हैं और सूर्य इनका पिता है ।'

विद्यार्थी अचम्भे में आकर मेरी तरफ देखने लगे ।

एक ने पूछा–'जी, यह कहानी किस किताब में लिखी है?'

मैंने कहा–'यह कहानी नहीं, सच्ची बात है ।'

लड़के बोले – 'नहीं हो सकती !'

मैंने कहा–'भई, ऐसा ही है ।'

और इसी सिलसिले में मैंने यह बताना शुरू किया कि सूर्य से पृथ्वी कैसे अलग हुई । फिर तो बात का रंग जमा और दिन-पर-दिन बीते । इस दरम्यान मैंने उन्हें बताया कि पृथ्वी की सतह ठंडी कैसी हुई, गड्ढे, टीले, खाई और पर्वत कैसे बने, सरोवर और नदियाँ कैसे बनीं, शैवाल, जलजन्तु, मछली, मेंढ़क, जल-थल के प्राणी, जंगल और जंगली मनुष्य और उनसे धीरे-धीरे आज के मनुष्य कैसे बने ? ये बातें बड़ी अद्‌भुत थीं । लड़के अत्यन्त एकाग्रता से इन्हें सुनते थे । हमारे प्रधानाध्यापक सातवीं कक्षा के छात्रों को भी यह सब सुनने के लिए भेजने लगे !

एक दिन मैं पृथ्वी का गोला ले आया और कहा–'देखो, मैं तुम्हें समझा चुका हूँ कि ये सारी चीजें इस पर कैसे बनीं ।'

मैंने छात्रों को समझाया कि पानी और जमीन कहाँ-कहाँ हैं, काले और गोरे लोग कहाँ रहते हैं, पीले और लाल लोग कहाँ रहते हैं, ठिगने-बौने और ऊँचे लोग कहाँ रहते हैं । इसके बाद मैंने पृथ्वी के प्रकृति सम्बंधी विभाग और उनके नाम बताए । फिर यह बताया कि हम एशिया में हैं । एशिया में यह जो दिखता है, सो हिन्दुस्तान है । हिन्दुस्तान में यह काठी लोगों का प्रदेश काठियावाड़ है और फिर यह बताया कि हम यहाँ भावनगर में रहते हैं ।

मैंने लड़कों से कहा–'यह गोला लो और उस सन्दूक में से वे नक्शे निकाल लो । फिर यह ढूँढो कि इस गोले पर ये नक्शे कहाँ-कहाँ मिलते हैं ।'

मैं लड़कों को रोज कुछ-न-कुछ नई बात देखने को कहने लगा । मैंने कहा–'तुमने आज तक जो-जो गाँव और शहर देखे हों, उन्हें ढूँढ निकालो । यह भी देखो कि वहाँ किस रास्ते जाया जाता है? रास्ते में कौन-कौन सी नदियाँ आती हैं और कौन-कौन से गाँव आते हैं ।'

यह एक ढंग हुआ। दूसरी ओर, मैं अफ्रीका देख चुका था, इसलिए अफ्रीका का नक्शा सामने रखकर मैं उन्हें अफ्रीका की बातें सुनाने लगा। मैंने विक्टोरिया नियाज़ा, टांगानीका, जांबेसी और नाइल की, अफ्रीका के सिंहों और हाथियों की, वहां के बाशिन्दों, मस्साई और कोवीरोण्डों की बातें कहीं। फिर एक दिन मैंने कहा–'ये हमारे आसपास जो कोली, कुम्हार, अहीर, गडरिया वगैरा रहते हैं, इन्हें तो जरा देख आओ। और यह कहकर इस दृष्टि से उनके साथ मैंने एक-दो यात्राएँ कीं–अपने गाँव, नदी-किनारे और पहाड़ों की और इस तरह उनमें भूतल के अध्ययन की अभिरुचि उत्पन्न की।

इसके बाद मैंने उनके लिए भूगोल-सम्बंधी एक वाचनालय कायम करने का विचार किया, लेकिन यात्रा-वर्णन की वैसी सुन्दर पुस्तकें हमारी भाषा में नहीं मिलीं। जो मिलीं, वही उन्हें देकर कहा–'पुस्तक पढ़ते जाओ और नक्शा देखते जाओ। यात्री कहाँ से कहाँ जाता है, यह देखो और उसके साथ घूमो।'

विद्यार्थी यात्रा-सम्बंधी किताबें पढ़ना पसंद करते हैं। एक-दो विद्यार्थियों को 'काठियावाड़-सर्व-संग्रह' में बड़ा आनन्द आया। नक्शे पर से एक गाँव चुनकर वे सर्व-संग्रह में से उसके संबंध की बातें पढ़ने लगे। इस प्रकार कई परिचित और अपरिचित गाँवों के विषय में उन्होंने जानकारी हासिल कर ली। श्री रविशंकर रावल के चित्रों ने उन्हें अहमदाबाद का सुन्दर परिचय करा दिया। हर एक महत्त्वपूर्ण स्थान के ऐसे चित्राधार तैयार मिल सकें तो क्या ही अच्छा हो? एक दिन श्री रविशंकर जी आए। उनके पास मद्रास के दृश्यों की एक फिल्म थी। मैंने लड़कों को वह फिल्म दिखाई। एक ओर जहाँ सिनेमा हानिकारक है, वहीं दूसरी ओर वह शिक्षा के एक कीमती साधन के रूप में भी खड़ा रहता है। दूर के दृश्यों को हूबहू दिखाने से छात्रों की भौगोलिक दिलचस्पी बढ़ती जाती है। एक बार 'सीज़र्स सिगरेट' की कुछ डिबियाँ मेरे हाथ लग गयीं। उनमें देश-विदेश के मनुष्यों के चित्र रहते हैं। वे चित्र भी मैंने छात्रों को देखने को दिए। मेरा उद्देश्य उन्हें सारी दुनिया का ज्ञान करा देना नहीं था, मेरा ध्येय यह भी नहीं था कि उन्हें कुछ याद रह जाए। मैं तो केवल उनके मन में यह ठँसा देना चाहता था कि दुनिया बहुत ही विशाल है, उसमें बहुतेरी बातें देखने और जानने योग्य हैं, उन्हें देखने के ये-ये साधन हैं। बस, मेरे लिए इतना ही काफी था।

मैंने एक दूसरा खेल भी निकाला था। उसका नाम था 'चलो, हम यात्रा पर चलें।' छात्र भावनगर से अहमदाबाद, द्वारिका, बम्बई, हिमालय, विलायत वगैरा को

रवाना होते । फिर कैसे रवाना होना है, किन-किन गाड़ियों में बैठना है, कहाँ-कहाँ गाड़ियाँ बदलनी हैं, कौन-कौन से देखने योग्य स्थान हैं, वहाँ क्या-क्या देखने लायक है, कितने दिनों में यात्रा पूरी होगी, किन-किन से मिलना होगा,क्या-क्या खरीदना होगा, आदि बातों का विचार करते । सचमुच के खर्च का अन्दाजा लगाते और शहरों की 'गाइड' देखकर यात्रा में दर्शनीय स्थानों के नाम नोट करते और भूगोल से प्रसिद्ध चीजें पढ़-पढ़कर क्या-क्या खरीदनी होंगीं, सो निश्चित करते । मानो सचमुच ही यात्रा को निकले हों इस ढंग से वे इन सारी बातों का अध्ययन करते । यह अध्ययन मैं भूगोल समझने की रीति के एक नमूने के तौर पर करता था । बाकी का काम विद्यार्थियों पर छोड़ देता था । कभी वे नक्शे में इस बात की टोह लगाते कि दियासलाई की डिब्बी कहाँ से आई है? कभी यहाँ की रूई विलायत जाती है तो किस-किस रास्ते जाती है, यह जानने के लिए वे कल्पना में रूई की गाँठ पर बैठकर रवाना होते । कभी बाज़ार में घूमने जाते, और एक दूकान में कौन-कौन से देश और शहर इकट्ठा हुए हैं, इसका पता लगाते । कभी नदियों के नामों की तो कभी पहाड़ों के नामों की, कभी देशों के नामों की तो कभी शहरों के नामों की – इस प्रकार भौगोलिक वस्तुओं और भौगोलिक नामों की अन्त्याक्षरी का खेल खेलते । विद्यार्थी जिस प्रकार चित्रकला में प्रेम से पेड़ का चित्र बनाते, उसी प्रकार देश-देश के नक्शे बनाने में भी उन्हें आनन्द आता । वे अपने बनाए हुए नक्शे में अपने देखे हुए, पढ़े हुए या सुने हुए गाँवों, नदियों और पहाड़ों को दिखाते और अधिक स्थान दिखाने के लिए भूगोल पढ़ कर जानते कि नए गाँव कहाँ हैं, किस जगह हैं । इस प्रकार हमारी कक्षा में भूगोल की पढ़ाई चलती थी ।

मेरे शिक्षक भाइयों ने एक दिन मुझसे कहा–'भई, यह काम तो बस, तुम्हीं कर सकते हो । इतनी सारी बातें हमें तो जानने को भी नहीं मिलतीं । हमें इस प्रकार भूगोल की चर्चा करना भी नहीं आता ।'

मैंने कहा–'भाइयो ! सब कुछ आ सकता है । मात्र हमें थोड़ा प्रयास अवश्य करना होगा और हममें उत्साह भी होना चाहिए ।'

5

वार्षिक परीक्षा का समय निकट आ रहा था । मैं अपने काम का हिसाब लगाने बैठा । बैठे-बैठे मैं गणित पर विचार करने लगा । यह बात नहीं कि आज दिन तक मैंने गणित को हाथ ही न लगाया हो, लेकिन उसकी चर्चा करने की इच्छा आज ही हुई ।

गणित की परीक्षा लेने की दृष्टि से जब मैंने अपनी कक्षा के लड़कों को उदाहरण-माला के कुछ सवाल हल करने को दिए तो सबने सवाल हल कर दिए। पहले तो मैंने सोचा कि ये सब इसमें पक्के हैं और यह अच्छा ही रहा कि जिस विषय में मैं कोई विशेष नया काम करके दिखा नहीं सकता था, विद्यार्थियों का वह विषय ठीक था। लेकिन जब मैंने धीरे से गणित के प्रश्नों के मूल में स्थित तर्क की बात छेड़ी, रीति का कारण पूछा तो मुझे अंधकार के दर्शन हुए। मैंने देखा कि छात्रों को जोड़, गुणा, घटाव आदि का ज्ञान है, लेकिन यह ज्ञान नकली और यंत्रवत् है। मैं सोचने लगा, इसका उपाय क्या हो सकता है? असमंजस में पड़ गया। एक तो गणित का विषय मुझे इतना प्रिय नहीं था। दूसरे, उसकी पढ़ाई के दोषों को मैं समझता था, लेकिन उन्हें दूर कैसे किया जाए, इसकी खोज मैंने की नहीं थी। ऐसी स्थिति में मेरे लिए यह एक कठिन प्रश्न-सा हो गया कि मैं क्या करूँ ? डिप्टी डायरेक्टर साहब के पास गया और उनसे मैंने साफ-साफ कहा–'साहब गणित के सम्बंध में मैं कोई नई बात करके दिखा नहीं सकूँगा। हाँ, लड़कों को भली-भाँति समझाकर पढ़ा दूँगा और पाठ्यक्रम पूरा करा दूँगा।'

डायरेक्टर साहब बोले–'ऐसा क्यों? क्या गणित की पढ़ाई में सुधार की गुँजाइश नहीं है।'

मैंने कहा–'जी, है तो। लेकिन वह सुधार या परिवर्तन मूल ही में होना चाहिए। बालक को गिनती सिखाने के समय से ही उचित पद्धति बता देनी चाहिए। गणित का विषय ऐसा है कि एक बार तर्क से वह मन में न ठँसा तो फिर सदा के लिए कमजोर ही रह जाता है।'

डायरेक्टर साहब ने कहा–'लेकिन तुम उन्हें आरम्भ से ही गणित क्यों नहीं सिखाते ?'

मैंने कहा–'इसके लिए समय कहाँ है? और समय हो तो भी इन विद्यार्थियों को, जिन्हें यन्त्रवत् काम करने की आदत पड़ चुकी है, जो गणित में कारण पूछते ही नहीं, गिनते ही चले जाते हैं, ठीक रास्ते पर लगाना कठिन है–बहुत ही कठिन।'

डायरेक्टर ने कहा–'तो फिर इन लड़कों का गणित.......?'

मैंने कहा–'यों तो मैं भरसक अच्छी तरह सिखा दूँगा। लेकिन मेरे कहने का आशय यह है कि इस विषय में जो कुछ प्रयोग किए जा सकते हैं, उन्हें मैं कर नहीं सकूँगा।'

डायरेक्टर साहब ने पूछा–'मान लो कि तुम्हें पहली कक्षा ही सौंपी जाए तो तुम

उस पर गणित के अपने प्रयोग करोगे या नहीं?'

मैंने कहा–'आशा तो रखता हूँ कि गणित के प्रयोग मैं एक-दो की गिनती से ही शुरू करूँ। तभी मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि देखो, यह ढंग अच्छा है। मैं जानता हूँ कि मेरे शिक्षक भाइयों को गणित के सम्बंध में किसी-न-किसी पद्धति पर चलने का शौक है। अगर अगले साल मुझे प्रयोग करने का सौभाग्य मिला तो मैं और चन्द्रशंकर इस विषय में अवश्य प्रयोग करेंगे। मैं समझता हूँ कि मोंटेसरी गणित-पद्धति अच्छी है। वह स्वाभाविक है, मैंने उसका वाचन और मनन किया है, पर अनुभव अभी नहीं कर पाया हूँ।'

उन्होने मुझसे पूछा–'क्या अगले साल तुम यहाँ डिप्टी का, अध्यापन-मन्दिर के शिक्षक का और गणित के प्रयोगकर्त्ता का स्थान ग्रहण करोगे?'

मैंने जवाब में कहा – 'जी, सो तो जैसी प्रभु की इच्छा हो। लेकिन इस बार के लिए तो मैं आप से यह कह देता हूँ कि गणित के विषय में मैं कोई खास नई बात नहीं दिखा सकूँगा।'

6

वार्षिक परीक्षा निकट आई। मैं अपने ढंग से विद्यार्थियों से परीक्षा की तैयारी कराने लगा। विद्यार्थी बड़े उत्साह से तैयार हो रहे थे। मुझे विश्वास था कि मेरे विद्यार्थी परीक्षा में अवश्य सफल होंगे।

परीक्षा का दिन आया। अधिकारी महोदय ने सब कक्षाओं की परीक्षा ले ली थी। आज मेरी कक्षा की बारी थी। हमारी शर्त के अनुसार स्वयं उन्हीं को परीक्षा लेनी थी। उन्होंने हँसकर कहा–'लक्ष्मीशंकर जी, मैं तुम्हारी कक्षा की परीक्षा नहीं लूँगा। तुम्हारी कक्षा के सब छात्रों को मैं ऊपर की कक्षा में चढ़ाता हूँ।'

मैंने कहा–'जी नहीं, यह नहीं हो सकेगा। ऐसा करने से मेरे कुछ विद्यार्थियों के साथ न्याय नहीं होगा।'

डायरेक्टर साहब ने पूछा–'यानी, उनके साथ अन्याय होगा?'

मैंने कहा–'जी हाँ; जो ऊपर चढ़ाने लायक नहीं हैं, उन्हें मैं पास नहीं कर सकता।

डायरेक्टर बोले–'लेकिन मुझे दिखता है कि तुमने सबको भली-भाँति पढ़ाया है और तुम्हारी यह पढ़ाई मुझे मंजूर है।'

मैंने कहा–'जी, आप ठीक कहते हैं। लेकिन मेरी इस पद्धति का असर सब पर

एक-सा तो नहीं होता। किसी-किसी छात्र को तो वह स्पर्श तक नहीं कर पाई है। वे कोरे और अछूते ही रह गए हैं।'

डायरेक्टर साहब ने पूछा–'तो उनके लिए तुमने क्या सोचा है?'

मैंने कहा–'जी, उनमें से किसी-किसी को तो पाठशाला ही छोड़ देनी चाहिए। राघव नाई का लड़का इतिहास, भूगोल या गणित का जीव नहीं है। वह इस शाला के वातावरण में उद्विग्न रहता है। पर वह इतना चलता-पुर्जा है कि सौ नाइयों का सेठ बनकर हजामत की एक बड़ी सी दूकान खोल सकता है। उसे हजामत में कुशलता प्राप्त करने और 'सैलूनों' की व्यवस्था सीखने के लिए बम्बई भेजना चाहिए।'

डायरेक्टर साहब ने कहा–'अच्छा, और कौन-कौन हैं, जो पाठशाला के लिए अयोग्य हैं ?'

मैंने कहा–'जी, ये पाठशाला के लिए अयोग्य नहीं हैं, बल्कि पाठशाला उनके लिए अयोग्य है। वे जिस काम के लायक हैं, पाठशाला उन्हें वह काम सिखाती नहीं है।'

डायरेक्टर साहब बोले–'अच्छा, यों सही। लेकिन ऐसे कौन-कौन हैं?'

मैंने कहा–'जीवन सेठ का 'नेमी' पुलिस विभाग के लायक है। उसे अखाड़े में भर्ती कीजिए। सेठ जी उसके लिए यात्रा का थोड़ा-बहुत प्रबन्ध कर दें और वह किसी अच्छे फौजदार के पास रहकर थोड़ा कानून पढ़ ले। पाँच साल में फक्कड़ जमादार बन जाएगा। अभी से वह आधे मदरसे पर तो जमादारी कर ही रहा है।'

उन्होंने पूछा – 'अच्छा, और कौन-कौन कमजोर हैं ?'

मैंने कहा–'जी, इस प्रकार के तीन छात्र और कमजोर हैं। उन्हें मैं इन छुट्टियों में अपने पास रखूँगा और अगले दर्जे के लिए तैयार करूँगा। साहब, हमारी वर्तमान पाठशालाओं की रीति-नीति और पाठ्यक्रम की कठोरता का कोई उपाय आप नहीं कीजिएगा?'

डायरेक्टर साहब ने कहा–'अभी इस विषय को रहने दो। मैं कई बार तुमसे कह चुका हूँ कि इस सम्बंध में मेरे हाथ-पैर जकड़े हुए हैं। अच्छा, तो तुम्हारी कक्षा की परीक्षा समाप्त मानी जाए?'

मैंने कहा–'जी नहीं।'

डायरेक्टर साहब ने विनोद के स्वर में कहा–'मालूम होता है, छ:माही परीक्षा की तरह आज भी तुमने कुछ विशेष प्रबन्ध किया है। अब तुम्हारी तरकीबें सब जान ली गई हैं।'

7

आज हमारी पाठशाला का सम्मेलन था। परीक्षा के बाद हर साल ऐसा सम्मेलन होता है। जो विद्यार्थी अच्छे नम्बरों से पास होते हैं, उन्हें आज के दिन इनाम दिए जाते हैं। सम्मेलन में गाँव के सेठ, साहूकार और अमलदार सभी हाजिर थे। साहब ने इस अवसर के लिए कार्यक्रम बनाने का काम मुझे सौंपा था। मैंने यह काम अपने विद्यार्थियों को सौंप दिया। जो कुछ किया था, मेरी सूचना और सलाह से उन्होंने किया था।

पहले डंडो की ताल पर रास-क्रीड़ा शुरू हुई। आध घंटे तक उन्होंने समा बाँध दिया। फिर शर्तों के खेल चले–दौड़ने की शर्त, लँगड़ी चाल की शर्त, तीन-पैर की शर्त, कुर्सी की शर्त, आदि-आदि। लोग एकटक से खेल देख रहे थे। खेल खत्म होने पर मूक अनुकरण का अभिनय हुआ। कोई गाँव के सेठ्जी की, कोई शिक्षाधिकारी की, कोई फौजदार की और कोई देश के नेताओं की सुन्दर नकल करके दिखा गया। इसके बाद विद्यार्थी अपने बनाए हुए चित्र ले आए और झुक-झुक कर हर एक सज्जन को बारी-बारी से दिखाने लगे। सारा भवन विद्यार्थियों के चित्र देखने में तल्लीन हो गया।

अन्तिम कार्य पारितोषिक-वितरण का था। हर साल 125 रुपयों का पारितोषिक बाँटा जाता था। ये पारितोषिक विद्यार्थियों को ही मिला करते थे।

अन्त में डायरेक्टर साहब ने खड़े होकर सदा की भाँति दो शब्द कहे। वे बोले – 'सज्जनों ! मेरी राय में आज का यह पारितोषिक-सम्मेलन दूसरे प्रकार का है। मेरी बगल में बैठे हुए इन महाशय ने मुझे इनामों के बारे में एक नया सबक सिखाया है। इस साल के 125 रुपए को मैं अलग-अलग इनाम के रूप में नहीं बाँटूँगा, बल्कि इस रकम से इनके नाम पर पाठशाला में एक वाचनालय की स्थापना होगी। मैंने उच्च अधिकारियों से इस आशय की आज्ञा भी प्राप्त कर ली है। आगे से हर साल इनाम की यह रकम वाचनालय को ही मिला करेगी। आपको यह शुभ समाचार सुनाते हुए मैं बड़े सुख का अनुभव कर रहा हूँ। व्यक्तिगत इनाम देने से विद्यार्थियों में अभिमान और निराशा की भावना पैदा होती है। यह नई व्यवस्था ऐसी है कि इससे इनाम की रकम का फायदा सब उठा सकेंगे। मुझे इनाम की निरर्थकता समझाने वाले और इस सद् प्रयोग का अनुभव कराने वाले इन भाई का मैं यहाँ सार्वजनिक रूप से आभार मानता हूँ।

'इस अवसर पर मैं आपको यह भी बता दूँ कि ये सज्जन एक साल पहले चौथी

कक्षा में शिक्षा के प्रयोग करने हेतु मेरे पास आए थे। मैंने उस समय इन्हें एक पढ़ा-लिखा मूर्ख ही समझा था। मैंने यह सोचकर इन्हें अनुमति दी थी कि इनके जैसे बहुतेरे पढ़े हैं, जो कसौटी पर कसे जाने पर भाग खड़े होते हैं। मुझे कहना चाहिए कि मैं इनमें विश्वास नहीं करता था। लेकिन अब मैं सहर्ष स्वीकार करता हूँ कि इनके प्रयोग बहुत सफल हुए हैं। मेरे विचारों में भी इन्होंने भारी परिवर्तन कर दिया है और आज अपने अंतःकरण में मुझे यह ध्वनि सुनाई पड़ रही है कि प्राथमिक पाठशाला के इस पुराने ढर्रे का अब शीघ्र ही अन्त होगा। हमारे जैसे शिक्षकों और अधिकारियों को अब राजी-खुशी रुखसत लेकर नई पीढ़ी के शिक्षा-शास्त्रियों और कल्पनाशील विचारकों को अपना स्थान सौंप देना चाहिए।

'सज्जनों ! मैं नहीं जानता कि आज अपने आनन्द को किस प्रकार व्यक्त करूँ? आप इनकी कक्षा के इन विद्यार्थियों को देखिए। ये कितने व्यवस्थित, स्वस्थ और आनन्दपूर्वक हैं? इनकी शक्ति और बुद्धि के विकास का मैं साक्षी हूँ। इनके सम्बंध में बच्चों के माता-पिता को भी अपना संतोष व्यक्त करते हुए मैंने बार-बार सुना है।'

डायरेक्टर साहब का भाषण समाप्त होते ही सम्मेलन की कार्रवाई खत्म हुई। सब अपने-अपने घरों को चल दिए।

मैं भी एक वर्ष के अपने सफल प्रयत्नों पर हर्ष मनाता हुआ घर पहुँचा और नई शिक्षा के आशाओं से भरे भविष्य के मधुर सपनें देखने में लीन हो गया।

मुद्रक :- जे.जे. आफॅसेट प्रिंटर्स, दिल्ली